कुछ समस्याएँ

जवाहर लाल नेहरू

कुछ समस्याएँ

मौजूदा साम्प्रदायिक, साहित्यिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और
अन्तर्राष्ट्रीय मसलों पर पंडित जवाहरलाल
नेहरू के लेख-आदि का संकलन

सम्पादक
जगदीश नारायण

पटना

युगान्तर प्रकाशन समिति

पहला संस्करण—अप्रिल,' ३७

चन्द्रावती देवी, युगान्तर प्रकाशन समिति,
पटना, द्वारा प्रकाशित
और
श्यामसुन्दर श्रीवास्तव, अजन्ता आर्ट प्रेस,
इलाहाबाद, द्वारा मुद्रित

दो शब्द

जेल में जो मैंने वर्षों गुजारे उनमें मैंने बहुत पढ़ा और बहुत लिखा। यह पढ़ना और लिखना अधिकतर अंग्रेजी भाषा में ही हुआ। इसकी वजेह यह थी कि आजकल के नये विचारो पर पुस्तके हिन्दी या उर्दू में मिलती नहीं। अगर नई दुनिया का हाल कुछ जानना है तब मजबूरन अंग्रेजी या फ्रेंच या अन्य यूरप की भाषा की पुस्तकें पढ़नी पड़ती हैं। दूसरी वजेह यह थी कि हिन्दी में लिखने का मुझे अभ्यास नहीं था। फिर भी मेरा विश्वास हमेशा से यह था कि हमें अपनी भाषाओं में काम करना चाहिए अगर हम जनता से संबन्ध बढ़ाना चाहते हैं।

अगस्त सन् १९३५ मे मैं अलमोड़ा जेल मे था। कुछ महीने पहले मैं अंग्रेजी में "मेरी कहानी" लिखना खतम कर चुका था और उसके बाद कुछ दिनों तक लिखने की इच्छा नहीं रही। फिर हल्के-हल्के लिखने की तरफ ध्यान जाने लगा। लेकिन मैंने सोचा कि अब की बार हिन्दी मे लिखूँ। कुछ झिझकता था, क्योंकि अभ्यास नही था। फिर भी इरादा किया कि लिखूँ। छोटे-छोटे लेख से शुरू किया और चार या पाँच लिखे जब मैं एकाएक छूट गया और हवाईजहाज से यूरप चला गया।

यह हिन्दी के लेख इस छोटी पुस्तक मे दिए हुए हैं और उनके साथ कुछ और भी लेख जो अंगरेजी में लिखे गए थे और जिनका अनुवाद किया गया है।

मैं आशा करता हूँ कि मुझे आएन्दा मौका मिलेगा हिन्दी में लिखने का। आज कल फिर से कुछ वहस छिड़ी हुई है हिन्दी और उर्दू और हिन्दुस्तानी की। मुझको यह वहस बहुत फिजूल मालूम होती है। हमारी बोलने की और लिखने की भाषा थोड़े से लोगों के लिए नहीं है, वह तो आम जनता की समझ में आनी चाहिए। इसलिए हमें उसको बिलकुल सहल बनाना है, जिसमें न संस्कृत के शब्द बहुत हों न अरबी और फारसी के। वह भाषा क्या हो इसको थोड़े ऊपर के आदमी नहीं निश्चय कर सकें। यह बात आम जनता ही तै कर सकती है। इस सरल बीच की भाषा को हिन्दुस्तानी ही कहना ठीक है और उसके लिए दोनों लिपियाँ—देवनागरी और उर्दू की—काम में लानी चाहिए।

भाषा तो सरल हो लेकिन विचार कैसे? विचार और प्रश्न भी ऐसे हों जो आम जनता से संबन्ध रखते हैं। तब हमारी भाषाएँ बढ़ेंगी और उनकी शक्ति फैलेगी।

इलाहाबाद
२६ मार्च १९३७

जवाहर लाल नेहरू

सम्पादकीय निवेदन

फैजपुर कांग्रेस के बाद मैंने राष्ट्रपति पंडित जवाहर लाल नेहरू से अनुरोध किया कि आप कृपा कर वर्तमान समस्याओं पर अपने हिन्दी के मौलिक लेखों और उनके साथ कुछ अंग्रेजी लेखों को भी हिन्दी-जगत के सामने पुस्तक-रूप में रखने की इजाजत देवें। आपने हमारा अनुरोध स्वीकार कर लिया और इजाजत देदी। मेरा यह प्रयत्न उसी के फल-स्वरूप है। इन लेखों में मौलिक केवल पाँच हैं। इनमें "भाई परमानन्द और स्वराज्य' सरस्वती (अक्तूबर, १९३५) में प्रकाशित हुआ था। बाकी चार—"दो मसजिदें", "शब्दों का अर्थ", "हिन्दी साहित्य का अन्य भाषाओं के साहित्य से सम्बन्ध" और "हमारा साहित्य" विशाल-भारत (नवम्बर, १९३५) में निकले थे। पुस्तक के दूसरे सभी निबन्ध, वक्तव्य, पत्र या भाषण अंग्रेजी से अनूदित हैं। ये सब पटने के अंग्रेजी दैनिक 'सर्च लाइट' में छप चुके हैं। "भारत किस ओर" शीर्षक लेख अंग्रेजी निबन्ध 'व्हिदर इंडिया' का श्रीयुत पं० वेंकटेश नारायण तिवारी द्वारा किया गया अनुवाद है। यह अनुवाद पुस्तक-रूप में 'किधर भारत' नाम से कुछ साल पहले प्रकाशित हो चुका था। मैं तिवारीजी तथा उन सभी सम्पादकों का जिनके पत्रों से मैंने लेख लिये हैं ऋणी हूँ।

मैंने पाठकों की सुविधा के लिए परिशिष्ट में भाई परमानन्द का लेख स्वराज्य क्या है, दे दिया है।

पटना

२० मार्च,' ३७

जगदीश नारायण

विषय-सूची

साम्प्रदायिक

दो
मसजिदें

आजकल समाचारपत्रों में लाहौर की शहीदगंज मसजिद की प्रति दिन कुछ-न-कुछ चर्चा होती है। शहर में काफी खलबली मची हुई है, दोनों तरफ मजहबी जोश दीखता है। एक दूसरे पर हमले होते हैं, एक दूसरे की बदनीयती की शिकायतें होती हैं, और बीच में एक पंच की तरह अंगरेजी हुकूमत अपनी ताकत दिखलाती है। मुझे न तो वाकयात ही ठीक-ठीक मालूम हैं कि किसने यह सिलसिला पहले छेड़ा था, या किसकी गलती थी, और न इसकी जाँच करने की मेरी कोई इच्छा ही है। इस तरह के धार्मिक जोश में मुझे बहुत दिलचस्पी भी नहीं है, लेकिन दिलचस्पी हो या न हो, पर जब वह दुर्भाग्य से पैदा हो जाय तो उसका सामना करना ही पड़ता है। मैं सोचता था कि हमलोग इस देश में कितने पिछड़े हुए हैं कि अदना-अदना-सी बातों पर जान देने को उतारू हो जाते हैं; पर अपनी गुलामी और फाकेमस्ती सहने को तैयार रहते हैं!

इस मसजिद से मेरा ध्यान भटककर एक दूसरी मसजिद की तरफ जा पहुँचा। वह एक बहुत प्रसिद्ध ऐतिहासिक मसजिद है, और करीब चौदह सौ वर्ष से उसकी तरफ लाखों-करोड़ों निगाहें देखती आई हैं। वह

इस्लाम से भी पुरानी है, और उसने अपनी इस लम्बी जिन्दगी में न-जाने कितनी बातें देखीं। उसके सामने बड़े-बड़े साम्राज्य गिरे, पुरानी सल्तनतों का नाश हुआ, धार्मिक परिवर्तन हुए। खामोशी से उसने यह सब देखा, और हर क्रान्ति और तबादले पर उसने अपनी भी पोशाक बदली। चौदह सौ वर्ष के तूफानों को इस आलीशान इमारत ने बरदाश्त किया, बारिश ने उसको धोया; हवा ने अपने बाजुओं से उसको रगड़ा; मिट्टी ने उसके बाज हिस्सों को ढँका। बुजुर्गी और शान उसके एक-एक पत्थर से टपकती है। मालूम होता है, उसकी रग-रग और रेशे-रेशे में दुनिया-भर का तजुर्बा इस डेढ़ हजार वर्ष ने भर दिया है। इतने लम्बे जमाने तक प्रकृति के खेलों और तूफानों की बरदाश्त कठिन थी; लेकिन उससे भी अधिक कठिन था मनुष्यों की हिमाकतों और वहशतों को सहना। पर उसने यह भी सहा। उसके पत्थरों की खामोश निगाहों के सामने साम्राज्य खड़े हुए और गिरे। मजहब उठे और बैठे, बड़े-से-बड़े बादशाह खूबसूरत-से-खूबसूरत औरतें, लायक-से-लायक आदमी चमके और फिर अपना रास्ता नापकर गायब हो गये। हर तरह की वीरता उन पत्थरों ने देखी और देखी हर प्रकार की नीचता और कमीनापन। बड़े और छोटे, अच्छे और बुरे, सब आये और चल बसे, लेकिन वे पत्थर अभी कायम हैं। क्या सोचते होंगे वे पत्थर, जब वे आज भी अपनी ऊँचाई से मनुष्यों की भीड़ों को देखते होंगे—उनके बच्चों का खेल, उनके बड़ों की लड़ाई, फरेब और बेवकूफी। हजारों वर्ष में इन्होंने कितना कम सीखा! कितने दिन और लगेंगे कि इनको अक्ल और समझ आये?

समुद्र की एक पतली-सी बाँह एशिया और यूरप को यहाँ अलग करती है—एक चौड़ी नदी की भाँति बासफोरस बहता है और दो दुनियाओं को जुदा करता है। उसके यूरोपियन किनारे की छोटी-छोटी पहाड़ियों पर बाइजेन्टियम की पुरानी बस्ती थी। बहुत दिनों से वह रोमन साम्राज्य में थी, जिसकी पूर्वी सरहद ईस्वी की शुरू की शताब्दियों में ईराक तक थी, लेकिन पूरब की ओर से इस साम्राज्य पर अकसर हमले होते

थे। रोम की शक्ति कुछ कम हो रही थी, और वह अपनी दूर-दूर की सरहदों की ठीक तरह रक्षा नहीं कर सकता था। कभी पश्चिम और उत्तर में जर्मन वहशी (जैसा कि रोमन लोग उन्हें कहते थे) चढ आते थे, और उनका हटाना मुश्किल हो जाता था, तो कभी पूरब में ईराक की तरफ से या अरब से एशियाई लोग हमले करते और रोमन फौजों को हरा देते थे।

रोम के सम्राट कॉन्सटेन्टाइन ने यह फैसला किया कि अपनी राजधानी पूरब की ओर ले जाय, ताकि वह पूर्वी हमलों से साम्राज्य की रक्षा कर सके। उसने बासफोरस के सुन्दर तट को चुना और बाइजेन्टियम की छोटी पहाड़ियों पर एक विशाल नगर की स्थापना की। ईस्वी की चौथी सदी खतम होनेवाली थी, जब कॉन्सटेन्टिनोपल (उर्फ कुस्तुन्तुनिया) का जन्म हुआ। इस नवीन प्रबन्ध से रोमन साम्राज्य पूरब में जरूर मजबूत हो गया; लेकिन अब पश्चिम की सरहद और भी दूर पड गई। कुछ दिन बाद रोमन साम्राज्य के दो टुकडे हो गये—एक पश्चिमी साम्राज्य और दूसरा पूर्वी साम्राज्य। कुछ वर्ष बाद पश्चिमी साम्राज्य को उसके दुश्मनों ने खतम कर दिया; लेकिन पूर्वी साम्राज्य एक हजार वर्ष से अधिक और कायम रहा और बाइजेन्टाइन साम्राज्य के नाम से प्रसिद्ध रहा।

सम्राट कॉन्सटेन्टाइन ने केवल राजधानी ही नहीं बदली; परन्तु उससे भी बड़ा एक परिवर्तन किया। उसने ईसाई धर्म स्वीकार किया। उसके पहले ईसाइयों पर रोम में बहुत सख्तियाँ होती थीं। जो उनमें से रोम के देवताओं को नहीं पूजता था, या सम्राट की मूर्ति का पूजन नहीं करता था, उसको मौत की सजा मिल सकती थी। अकसर उसे मैदान में भूखे शेरों के सामने फेंक दिया जाता था। यह रोम की जनता का एक बहुत प्रिय तमाशा था। रोम में ईसाई होना एक बहुत खतरे की बात थी। वे तो बागी समझे जाते थे। अब एकाएक जमीन-आसमान का फर्क हो गया। सम्राट स्वयं ईसाई हो गया, और ईसाई धर्म सब से अधिक

आदरणीय समझा जाने लगा। अब बेचारे पुराने देवताओं के पूजनेवाले मुश्किल में पड़ गये, और बाद के सम्राटों ने तो उनको बहुत सताया। केवल एक सम्राट फिर ऐसे हुए (जूलियन), जो ईसाई धर्म को तिलांजलि देकर फिर देवताओं के उपासक बन गये, परन्तु तब ईसाई धर्म बहुत जोर पकड़ चुका था, इसलिए बेचारे रोम और ग्रीस के प्राचीन देवताओं को जंगल की शरण लेनी पड़ी, और वहाँ से भी वे धीरे-धीरे गायब हो गये।

इस पूर्वी रोमन साम्राज्य के केन्द्र कुस्तुन्तुनिया में सम्राटों की आज्ञा से बड़ी-बड़ी इमारतें बनीं, और बहुत जल्दी वह एक विशाल नगर हो गया। उस समय यूरोप में कोई भी दूसरा शहर उसका मुकाबला नहीं कर सकता था—रोम भी बिलकुल पिछड़ गया था। वहाँ की इमारतें एक नई तर्ज की बनी, एक नई भवन बनाने की कला का प्रादुर्भाव हुआ, जिसमें मेहराब, गुम्बज, बुर्जियाँ, खम्मे इत्यादि अपनी ही तर्ज के थे, और जिसके अन्दर और खम्भों वगैरा पर बारीक मोजाइक (पच्चीकारी) का काम होता था। यह इमारती कला बाइज़ेन्टाइन कला के नाम से प्रसिद्ध है। छठी सदी में कुस्तुन्तुनिया में एक आलीशान केथीड्रल (बड़ा गिरजा) इस कला का बनाया गया, जो सॉक्टा-सोफिया या सेन्ट-सोफिया के नाम से मशहूर हुआ।

पूर्वी रोमन साम्राज्य का यह सब में बड़ा गिरजा था, और सम्राटों की यह इच्छा थी कि वह बेमिसाल बने और अपनी शान और ऊँचे दर्जे की कला में साम्राज्य के योग्य हो। उनकी इच्छा पूरी हुई, और यह गिरजा अब तक बाइज़ेन्टाइन कला की सब से बड़ी फतह समझा जाता है। बाद में ईसाई धर्म के दो टुकड़े हुए (हुए तो कई, लेकिन दो बड़े टुकड़ों का जिक्र है), और रोम और कुस्तुन्तुनिया में धार्मिक लड़ाई हुई। वे एक दूसरे से अलग हो गये। रोम का बिशप (बड़ा पादरी) पोप हो गया, और यूरोप के पश्चिमी देशों में वह बड़ा माना जाने लगा; लेकिन पूर्वी रोमन साम्राज्य ने उसको नहीं माना, और वहाँ का ईसाई

फिरका अलग हो गया। यह फिरका ऑर्थोडॉक्स चर्च कहलाने लगा, या अकसर ग्रीक चर्च भी कहलाता था, क्योंकि वहाँ की बोली ग्रीक हो गई थी। यह ऑर्थोडॉक्स चर्च रूस और उसके आसपास भी फैला था।

सेन्ट-सोफिया का केथीड्रल ग्रीक चर्च (धर्म) का केन्द्र था, और नौ सौ वर्ष तक वह ऐसा ही रहा। बीच में एक दफे रोम के पक्षपाती ईसाई (जो आये थे मुसलमानों से क्रूसेड्स—जेहाद—लड़ने) कुस्तुन्तुनिया पर टूट पड़े, और उसपर उन्होंने कब्जा भी कर लिया, लेकिन वे जल्दी ही निकाल दिये गये।

आखिर में जब पूर्वी रोमन साम्राज्य एक हजार वर्ष से अधिक चल चुक था और सेन्ट-सोफिया की अवस्था भी लगभग नौ सौ वर्ष की हो रही थी, तब एक नया हमला हुआ, जिसने उस पुराने साम्राज्य का अन्त कर दिया। पन्द्रहवीं सदी में ओस्मानली तुर्कों ने कुस्तुन्तुनिया पर फतह पाई। नतीजा यह हुआ कि वहाँ का जो सब से बड़ा ईसाई केथीड्रल था, वह अब सब से बड़ी मसजिद हो गई। सेन्ट-सोफिया का नाम आया-सुफीया हो गया। उसकी यह नई जिन्दगी भी लम्बी निकली—सैकड़ों वर्षों की। एक तरह से वह आलीशान मसजिद एक ऐसी निशानी बन गई, जिसपर दूर-दूर से निगाहें आकर टकराती थीं और बड़े-बड़े मनसूबे गाँठतीं थीं। उन्नीसवीं सदी में तुर्की साम्राज्य कमजोर हो रहा था, और रूस बढ़ रहा था। रूस इतना बड़ा देश होते हुए भी एक बन्द देश था। उसके साम्राज्य-भर में कोई ऐसा खुला बन्दरगाह नहीं था, जो सर्दियों में बर्फ से खाली रहे और काम आ सके, इसलिए वह कुस्तुन्तुनिया की ओर लोभ-भरी आँखों से देखता था। इससे भी अधिक आकर्षण आध्यात्मिक और सांस्कृतिक था। रूस के जार (सम्राट) अपने को पूर्वी रोमन सम्राटों के वारिस समझते थे, और उनकी पुरानी राजधानी को अपने कब्जे में लाना चाहते थे। दोनों का मजहब वही ऑर्थोडॉक्स ग्रीक चर्च था, जिसका नामी गिरजा सेन्ट-सोफिया था। रूस को यह असह्य

था कि उसके धर्म का सब से पुराना और प्रतिष्ठित गिरजा मसजिद बना रहे। उसके ऊपर जो इस्लाम की निशानी हिलाल या अर्द्ध-चन्द्र था उसके बजाय ग्रीक क्रास होना चाहिए।

धीरे-धीरे उन्नीसवीं सदी में जारों का रूस कुस्तुन्तुनिया की ओर बढ़ता गया। जब करीब आने लगा, तब यूरप की और शक्तियाँ घबराईं। इंगलैण्ड और फ्रांस ने रुकावटें डालीं, लड़ाई हुई, रूस कुछ रुका। लेकिन फिर वही कोशिश जारी हो गई, फिर वही राजनीतिक पेंच चलने लगे। आखिरकार सन १९१४ की बड़ी लड़ाई आरम्भ हुई, और उसमें इंगलैण्ड, फ्रांस, रूस और इटली में खुफिया समझौते हुए। दुनिया के सामने तो ऊँचे सिद्धान्त रखे गये आजादी के और छोटे देशों की स्वतंत्रता के, लेकिन परदे के पीछे गिद्धों की तरह लाश के इन्तजार में उसके बँटवारे के मनसूबे निश्चत किये गये।

पर यह मनसूबे भी पूरे नहीं हुए। उस लाश के मिलने के पहले जारों का रूस ही खतम हो गया। वहाँ क्रान्ति हुई, और हुकूमत और समाज दोनों का ही उलट-फेर हो गया। बोल्शेविकों ने तमाम पुराने खुफिया समझौते प्रकाशित कर दिये, यह दिखाने को कि यह यूरप की बड़ी-बड़ी साम्राज्यवादी शक्तियाँ कितनी धोखेबाज हैं। साथ ही इस बात की घोषणा की कि वे (बोल्शेविक) साम्राज्यवाद के विरुद्ध हैं, और किसी दूसरे देश पर अपना अधिकार नहीं जमाया चाहते। हर एक जाति को स्वतन्त्र रहने का अधिकार है।

यह सफाई और नेक-नीयती पश्चिम की विजयी शक्तियों को पसन्द नहीं आई। उनकी राय में खुफिया सन्धियों का ढिंढोरा पीटना शराफत की निशानी नहीं थी। खैर, अगर रूस की नई हुकूमत नालायक है, तो कोई वजह न थी कि वे अपने अच्छे शिकार से हाथ धो बैठें। उन्होंने—खास कर अंगरेजों ने—कुस्तुन्तुनिया पर कब्जा किया। ४८६ वर्ष बाद इस पुराने शहर की हुकूमत इस्लामी हाथों से निकलकर फिर ईसाई हाथों में आई। सुलतान-खलीफा जरूर मौजूद थे, लेकिन वे एक गुड्डे की भाँति

थे ; जिधर मोड़ दिये जायें, उधर ही घूम जाते थे। आया-सुफीया भी ह्स्य मामूल खड़ी थी और मसजिद थी, लेकिन उसकी वह शान कहाँ, जो आजाद वक्त में थी, जब स्वयं सुलतान उसमें जुमे की नमाज पढने जाते थे ?

सुलतान ने सिर झुकाया, खलीफा ने गुलामी तसलीम की ; लेकिन चन्द तुर्क ऐसे थे, जिनको यह स्वीकार न था। उनमें से एक मुस्तफा कमाल था, जिसने गुलामी से बगावत को बेहतर समझा।

इस अरसे में कुस्तुन्तुनिया के एक और वारिस और हकदार पैदा हुए—ये ग्रीक लोग थे। लड़ाई के बाद ग्रीस को मुफ्त में बहुत-सी जमीन मिली, और वह पुराने पूर्वी, रोमन साम्राज्य का स्वप्न देखने लगा। अभी तक रूस रास्ते में था, और तुर्की तो मौजूद ही था। अब रूस मुकाबले से हट गया, और तुर्क लोग हारे हुए परेशान पड़े थे। रास्ता साफ मालूम होता था। इंगलैण्ड और फ्रांस के बड़े आदमियों को भी राजी कर लिया गया, फिर दिक्कत क्या ?

लेकिन एक बड़ी कठिनाई थी। वह कठिनाई थी मुस्तफा कमाल-पाशा। उसने ग्रीक हमले का मुकाबला किया और अपने देश से ग्रीक फौजों को बुरी तरह हराकर निकाला। उसने सुलतान-खलीफा को, जिसने अपने मुल्क के दुश्मनों का साथ दिया था, एक गद्दार (देशद्रोही) कहकर निकाल दिया। उसने मुल्क से सल्तनत और खिलाफत दोनों का सिलसिला ही मिटा दिया। उसने अपने गिरे और थके हुए मुल्क को हजार कठिनाइयों और दुश्मनों के सामने खड़ा किया और उसमें फिर नई जान फूँक दी। उसने सबसे बड़े परिवर्तन धार्मिक और सामाजिक किये। स्त्रियों को परदे के बाहर खींचकर जाति में सब से आगे रखा। उसने धर्म के नाम पर कट्टरपने को दबा दिया और सिर नहीं उठाने दिया। उसने सब में नई तालीम फैलाई—हजार वर्ष पुराने रिवाजों और तरीकों को खतम किया।

पुरानी राजधानी कुस्तुन्तुनिया को भी उसने इस पदवी से उतार दिया। डेढ़ हजार वर्ष से वह दो बड़े साम्राज्यों की राजधानी रही थी; अब राजधानी एशिया में अंगोरा नगर हो गया—एक छोटा-सा शहर; लेकिन तुर्कों की नई शक्ति का एक नमूना। कुस्तुन्तुनिया का नाम भी बदल गया—वह इस्ताम्बूल हो गया।

और आया-सुफीया? उसका क्या हश्र हुआ? वह चौदह सौ वर्ष की इमारत इस्ताम्बुल में खड़ी है, और जिन्दगी के ऊँच-नीच को देखती जाती है। नौ सौ वर्ष तक उसने ग्रीक धार्मिक गाने सुने और अनेक सुगन्धियों को, जो ग्रीक पूजा में रहती हैं, सूँघा। फिर चार सौ अस्सी वर्ष तक अरबी अजान की आवाज उसके कानों मे आई और नमाज पढ़ने वालों की कतारें उसके पत्थरों पर खड़ी हुई।

और अब?

एक दिन, कुछ महीनों की बात है,—इसी साल १९३५ में—गाजी मुस्तफा कमाल पाशा (जिनको अब खास खिताब और नाम आता तुर्क का दिया गया है) के हुक्म से आया-सुफीया मसजिद नहीं रही। बग़ैर किसी धूम-धाम के वहाँ के होजा लोग (मुस्लिम मुल्ला वगैरह) हटा दिये गये और अन्य मसजिदों में भेज दिये गये। अब यह तय हुआ कि आया-सुफीया बजाय मसजिद के एक म्यूज़ियम (संग्रहालय) हो—खास कर बाइज़ेन्टाइन कलाओं का। बाइज़ेन्टाइन जमाना तुर्कों के आने के पहले का ईसाई जमाना था। तुर्कों ने कुस्तुन्तुनिया पर कब्जा १४५३ ई० में किया था। उस समय से समझा जाता है कि बाइज़ेन्टाइन कला खतम हो गई, इसलिए अब आया-सुफीया एक प्रकार से फिर ईसाई जमाने को वापस चली गई—मुस्तफा कमाल के हुक्म से!

आजकल वहाँ जोरों से खुदाई हो रही है। जहाँ-जहाँ मिट्टी जम गई थी, हटाई जा रही है, और पुराने मोजाइक्स निकल रहे हैं। बाइज़ेन्टाइन कला के जाननेवाले अमेरिका और जर्मनी से बुलाये गये हैं, और उन्हीं की निगरानी में काम हो रहा है। फाटक पर संग्रहालय तख्ती लटकती

हैं, और दरबान बैठा है। उसको आप अपना छाता-छड़ी दीजिए, उनका टिकट लीजिए और अन्दर जाकर इस प्रसिद्ध पुरानी कला के नमूने देखिये। और देखते-देखते इस संसार के विचित्र इतिहास पर विचार कीजिए, अपने दिमाग को हजारों वर्ष आगे-पीछे दौड़ाइये, क्या-क्या तसवीरें, क्या-क्या तमाशे, क्या-क्या जुल्म, क्या-क्या अत्याचार आपके सामने आते हैं। उन दीवारों से कहिये कि वे आपको अपनी कहानी सुनावें, अपने तजुर्बे आपको दे दें। शायद कल और परसों जो गुजर गये, उनपर गौर करने से हम आज को समझें, शायद भविष्य के परदे को भी हटाकर हम झांक सकें।

लेकिन वे पत्थर और दीवारें खामोश हैं। उन्होंने एतवार की ईसाई पूजा बहुत देखी और बहुत देखी जुमे की नमाजें। अब हर दिन की नुमायश है उनके साये में! दुनिया बदलती रही, लेकिन वे कायम हैं। उनके घिसे हुए चेहरे पर कुछ हल्की मुसकराहट-सी मालूम होती है, और धीमी आवाज-सी कानों में आती है—'इन्सान भी कितना बेवकूफ और जाहिल है कि वह हजारों वर्ष के तजुर्बे से नहीं सीखता और बार-बार वही हिमाकतें करता है।'

अलमोड़ा जेल

७ अगस्त १९३५

भाई परमानन्द और स्वराज्य

भाई परमानन्दजी का एक लेख—"स्वराज्य क्या है ?"—मैंने अभी पढ़ा (सरस्वती, अगस्त, १९३९)। बहुत आशा से पढ़ा था कि इस कठिन सवाल के हल करने में या समझने में कुछ सहायता मिलेगी। लेकिन पढ़कर आश्चर्य हुआ। भाईजी हिन्दू-महासभा के एक बड़े नेता हैं और उस सभा का ध्येय क्या है या दृष्टिकोण क्या है यह बताने का उनको पूरा हक है और कदाचित् कोई और उतने अधिकार से यह न बतला सके। कांग्रेस का इस समय क्या राजनैतिक ध्येय है यह छिपी बात नहीं है लेकिन जो भाईजी उसको समझे हैं वह अजीब बात है। अगर भाईजी की तरह और लोग भी कुछ ऐसा ही समझे हैं तो तअज्जुब क्या कि इतनी गलतफहमी है ?

भाईजी ने 'स्वराज्य' के दो अर्थ लगाये हैं। मुख्तसर एक तो यह है कि अपने 'स्व' पर कायम रहें यानी धर्म, सभ्यता, संस्कृति, आचार पर कायम रहें; और दूसरे यह कि अपने 'स्व' को छोड़कर हुकूमत के 'स्व' को स्वीकार कर लें—अपना धर्म छोड़ दें, पूर्वजों को तिलाञ्जलि दे दें, जातीयता को त्याग दें। इस भेद के समझाने के लिए उन्होंने भारत में जब इस्लामी राज्य था उस समय का उदाहरण दिया है और मिस्र और ईरान की भी मिसाल पेश की है। फिर भाईजी ने

हमको यह बताया है कि पहले तरह के स्वराज्य के लिए हिन्दू-महासभा यत्न कर रही है, यानी अपनी जातीगता और धर्म रखने की, और दूसरे प्रकार के स्वराज्य की कांग्रेस कोशिश करती है, यानी अपनी जातीयता मिटा दें और पराये की ओढ़ लें। यह भी उन्होंने दिखाया है कि इस प्रकार की नई जातीयता और 'स्वराज्य' लेने का सब से आसान तरीका यह है कि हमसब अपना धर्म छोड़कर ईसाई हो जावें—हमारा 'स्व' इङ्गलैंड के लोगों का 'सेल्फ' हो जायगा और हम स्वतन्त्र हो जायँगे।"

किसी मजमून पर विचार करने में यह अच्छा होता है अगर हम अपने मुखालिफ की राय को ठीक-ठीक समझें और लिखें, नहीं तो हम हवाई लड़ाई लड़ते हैं। भाईजी ने कांग्रेस के बारे में जो बात लिखी है वह मैंने आज पहली बार सुनी है और मेरे समझ में नहीं आता कि भाईजी ऐसी बेबुनियाद बात जिम्मेदारी के साथ कैसे कह सकते हैं। कोई भी भारत का बच्चा शायद उनको बता दे कि यह बात सरासर गलत है।

छोटे-से मजमून में भाई जी ने बहुत बहस-तलब, और मेरी राय में गलत बातें लिखी हैं और उनपर कुछ कहने को जी चाहता है। बहुत अदब से मैं उनसे यह कहा चाहता हूँ कि चन्द कांग्रेसवाले भी ऐसे हैं जो हिन्दू-इतिहास और विश्व-इतिहास कुछ जानते हैं (इतिहास हिन्दू या मुसलमान या ईसाई कैसे हो जाता है, मैं समझा नहीं—लेकिन कदाचित् उनका मतलब यह हो कि भारत के हिन्दुओं का इतिहास)। मिस्र और ईरान की मिसाल जो भाईजी ने दी है वह मुझे सही नहीं मालूम होती, लेकिन इन सब बातों में जाना मेरे लिए यहाँ असम्भव है। इसी तरह से और कई बातों का भी मैं बिलफेल यहाँ जिक्र नहीं करता। मैं आशा करता हूँ कि भाईजी ज्यादा विस्तारपूर्वक इस मजमून को लिखेंगे और उसमें जिस सबूत और जिन वाकयात पर उन्होंने अपनी राय कायम की है उनको पेश करेंगे।

खास तौर से उनको चाहिये कि कांग्रेस के ध्येय के बारे में जो उनकी राय है उसको साबित करें, क्योंकि यह मुनासिब तो नहीं है कि कोई इलजाम बगैर काफी वजह और सबूत के लगाया जावे। एक अजीब बात मालूम होती है कि कांग्रेस अंगरेजों (या ईसाइयों) का 'स्व' हासिल करने को अँगरेजी हुकूमत से असहयोग, सत्याग्रह, जंग करे और हिन्दू-महासभा अपनी पुरानी जातीयता और 'स्व' कायम रखने को गवर्नमेंट से सहयोग करे।

भाईजी ने असल सवाल पर तो अपने मजमून में गौर किया ही नहीं। वे हमलोगों की पुरानी गलती में पड़ गये—शब्दों के गुलाम हो गये और उनमें फँसकर असली माने छोड़ दिये। स्वराज्य क्या चीज है यह एक निहायत पेचीदा सवाल है और उसीके साथ निहायत जरूरी है। बाबू भगवानदासजी अरसे से कोशिश कर रहे हैं कि इस प्रश्न का उत्तर मिले, लेकिन बहुत कम लोगों ने इसकी तरफ ध्यान दिया। और ध्यान न देने से यह नतीजा हुआ कि एक अजीब दिमागी गड़बड़ पैदा हो गई, और हर एक शख्स अपने ही माने लगाता है। चुनांचे भाई परमानन्द ने भी एक ऐसी दूर की पकड़ी कि वहाँ तक किसी और की अभी तक पहुँच नहीं हुई थी। स्वराज्य के सब पहलुओं में इस लेख में मैं नहीं जा सकता। न मुझे अधिकार है कि मैं कांग्रेस की ओर से जाब्ते से जवाब दूँ। फिर भी कुछ मोटी बातें जो बुनियादी हैं और जो अक्सर लोग जानते हैं, उनकी ओर मैं ध्यान आकर्षित किया चाहता हूँ।

स्वराज्य शब्द का पहले तो संबंध है एक का दूसरे देश या देशों से रिश्ता, और रिश्ता राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, इत्यादि होता है। अगर राजनैतिक और आर्थिक बातों में कोई देश अन्य के अधीन नहीं है तब आजाद या स्वतन्त्र कहलाता है। इसमें धोखेबाजी अक्सर होती है—देश सियासी तौर पर स्वतन्त्र गिने जाते हैं, लेकिन परदे के पीछे वे किसी और देश के आर्थिक गुलाम होवे हैं। इसीके साथ यह भी याद रखना है कि आज-कल की दुनिया में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और

तेजी से सफर करने से और हवाई-जहाज और तार-रेडियो इत्यादि की वजह से सब देशों में ऐसा घनिष्ठ संबंध होगया है कि कोई भी पूरी तौर से स्वतन्त्र नहीं कहला सकता और एक का असर दूसरे पर पड़ता है। फिर भी हम यह कह सकते हैं कि जो राजनैतिक और आर्थिक बातों में आजाद हैं वह इन्डेपेन्डेन्ट या स्वतन्त्र है। अगर यह आजादी उसकी है तब कोई सवाल सांस्कृतिक या सामाजिक आजादी का नहीं उठता, क्योंकि वह तो उसमें मिली हुई हैं। इन मामलों मे उस देश को अपनी हुकूमत या रहनेवालों को अधिकार है, जो चाहें करें। अगर वे अपने पुराने आचार और संस्कृति पर कायम रहना चाहते हैं तो कोई उनको उससे हटा नहीं सकता। अगर वे उनको बदला चाहें तो कौन उनको रोके?

एक दूसरा पहलू भी स्वराज्य शब्द का है—देश के अन्दर लोगों का एक दूसरे से क्या संबंध हो—राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक इत्यादि। इसमें बहुत पेचीदगियाँ पैदा हो जाती हैं और तरह-तरह की रायें हैं। अकसर लोग आधुनिक संसार में (सिवा उन देशों के जहाँ फेसिज्म का जोर है) लोकतन्त्रवाद को पसंद करेंगे। इसमें भी भेद है कि यह लोकतन्त्रवाद खाली राजनैतिक हो कि आर्थिक और सामाजिक (Economic and social democracy) भी। पूँजीवाद, साम्यवाद इत्यादि के प्रश्न यहाँ पर उठते हैं।

कांग्रेस का क्या ध्येय है? पहले तो जाहिर है कि हमारा देश और देशों के मुकाबले में स्वतन्त्र और इन्डेपेन्डेन्ट हो राजनैतिक और आर्थिक बातों में। इसके माने यह है कि सांस्कृतिक, सामाजिक, धार्मिक बातें उस आजादी में शामिल हैं और किसी बाहरवाले को उनमें दखल देने का कोई अधिकार नहीं है। जो हमारा देश खुद चाहेगा वह तय करेगा।

अंदरूनी पहलू में कांग्रेस क्या चाहती है? इसका जवाब देना ज्यादा कठिन है सिवा इसके कि वह राजनैतिक लोकतन्त्रवाद के हक में है। बाकी उसने अभी तक कोई फैसला नहीं किया है, जिसके माने किसी कदर यही हैं कि आधुनिक हालत में बहुत फर्क नहीं किया चाहती।

कांग्रेस एक बड़ी संस्था की सूरत में देश के सामने है, लेकिन वह तो असल में एक सर्वदल-सम्मेलन है, जिसमें एकता खाली राजनैतिक स्वतंत्रता के बारे में है। इन लोगों में आपस में आर्थिक और सामाजिक प्रश्नों पर भेद है—साम्यवाद, पूँजीवाद और अन्य वादों के पक्षपाती सब ही हैं। कांग्रेस के नेता अधिकतर आधुनिक पूँजीवाद को पसंद करते हैं और उसमें बहुत फर्क नहीं किया चाहते।

बाद में कांग्रेस इन आर्थिक और सामाजिक प्रश्नों पर क्या राय कायम करेगी, मैं नहीं कह सकता। जिधर कसरत राय होगी, उधर ही वह झुकेगी जैसा कि लोकतन्त्रवादी संस्थाओं में होता है। वह शुरू में केवल राजनैतिक कार्यों के लिए स्थापित की गई थी जैसी कि सब पराधीन देशों की राष्ट्रीय संस्थायें होती हैं। अब मजबूरी दर्जे उन सभों को और प्रश्नों का भी सामना करना पड़ रहा है। कांग्रेस या कोई भी जीवित संस्था इससे बच नहीं सकती।

परन्तु भाई परमानन्द जी के 'स्व' को छोड़ने का प्रश्न कहाँ उठता है? और अपनी जातीयता और धर्म और संस्कृति छोड़ने का? यह 'स्व' क्या है और भाईजी की राय में हिन्दूत्व क्या है, यह ठीक-ठीक मालूम हो तो उनपर विचार किया जा सकता है। हिन्दुओं में जाति-भेद बहुत जड़ पकड़े हुए है। इसको भाईजी हिन्दूत्व में रखेंगे? जहाँ तक मैं जानता हूँ वे इसके विरुद्ध हैं और जात-पाँत-तोड़क-मंडल के सदस्य हैं। और हमारे बहुत रेवाज हैं—विधवाओं के संबंधी, विरासत के बारे में, विवाह के, मरने के, पूजा इत्यादि के, खाने के, छूत-छात के, कपड़ों के, इनमें से क्या-क्या बातें हिन्दूत्व में रखनी चाहिए? यह कहा जा सकता है कि ज्यादातर ये बातें ऊपरी हैं और मूल बातें पकड़ने के लिए हमें वेदों को लेना चाहिए या हमारे दर्शन-शास्त्र को। बहुत हिन्दू यह नहीं मानेंगे कि हम इन 'ऊपरी' बातों को अहमियत न दें। वे उनको वेदों से अधिक आवश्यक समझते हैं। और अगर हिन्दुओं के आगे बढ़िये और बौद्ध, सिक्ख, जैनों को लीजिए (जिनको मुझे खुशी है कि हिन्दू-महासभा ने

अपनाने का यत्न किया है) तब और भी पेंचीदगियाँ बढ़ती हैं। बौद्ध दर्शन-शास्त्रों में और हिन्दू-दर्शन-शास्त्रों मे बहुत फर्क है । वे वेदों को नहीं मानते। ऐसी हालत में अगर मेरे-ऐसे कम जाननेवाले लोग गड़बड़ा जावें तो क्या आश्चर्य है? इसलिए यह आवश्यक है कि भाई परमानन्द जी और हिन्दू-महासभा इस बात को बिलकुल साफ कर दे कि किस 'स्व' के लिए वे कोशिश करते हैं, किस हिन्दूत्व को वे इस हमारे देश में कायम रखना चाहते हैं। और यह भी साफ बताया जावे कि उनकी राय मे कांग्रेस कहाँ-कहाँ 'स्व' को छोड़ रही है। विचार करनेवाले लोग गोल शब्दों की उलझन से निकलकर हर बात को साफ कहने और लिखने की कोशिश करते हैं। तब ही उसपर विचार हो सकता है, नहीं तो केवल जोश बढ़ाने के शब्द हो जाते हैं।

मेरा खयाल था—संभव है कि गलत हो—कि जिस 'स्व' में हिन्दू-महासभा को खास दिलचस्पी है वह सरकारी नौकरी-चाकरी और कौंसिलों वगैरह की मेम्बरी से संबंध रखता है—कितने तहसीलदार, डिप्टीकलक्टर और पुलीस के अफसर हिन्दू हों। यह भी मैंने देखा कि हिन्दू-महासभा को राजाओं, तअल्लुकदारों और बड़े जमींदारों और साहूकारों से बहुत मोहब्बत है और उसे उनके हकूक की रक्षा की फिक्र रहती है। कर्ज-संबंधी कानूनों का उन्होंने विरोध किया इस बुनियाद पर कि वे साहूकार को हानि पहुँचाते हैं चाहे वे किसान और छोटे जमींदारों को फायदा क्यों न करें। क्या ये सब बातें हिन्दूत्व में मिली हुई हैं और साहूकार का जबर्दस्त सूद लेना भी हमारे उस 'स्व' का एक हिस्सा है जिसकी हमें रक्षा करनी है?

एक और विचारणीय बात है। इतिहास-लेखकों का यह खयाल है कि भारत में मुस्लिम राज्य स्थापित होने पर हिन्दू सभ्यता और संस्कृति का केन्द्र दक्षिण भारत की तरफ चला गया। वहाँ मुसलमानों की पहुँच कम थी। आज-कल भी दक्षिण में पुराना हिन्दू-वर्णाश्रम-धर्म उत्तर-भारत से अधिक है और भारत-भर में यह हिन्दूत्व कदाचित् पंजाब में सब से

कम हो। इसकी वजह भी साफ है। पंजाब और सिन्ध का इस्लामी राज्यों और तुर्किस्तान से हमारे देश में सब से अधिक संबंध रहा। दिलचस्प बात तो यह है कि इस समय इसी पंजाब में हिन्दू-महासभा की शक्ति ज्यादा है और दक्षिण में तो उसकी पहुँच बहुत कम है।

मुझे सभ्यता और संस्कृति के इतिहास में बहुत दिलचस्पी रही है और असल में तो वही इतिहास है, बाकी राजाओं का आना और जाना और लड़ना है। जब कभी सभ्यता या संस्कृति का प्रश्न उठता है तब मैं उधर खिंचता हूँ और कुछ सीखने और समझने की कोशिश करता हूँ। सर मोहम्मद इकबाल अक्सर इस्लामी संस्कृति का जिक्र करते हैं। मुझे यह बात गोल मालूम हुई, इसलिए मैंने उनसे इसको साफ करने को कहा और कई सवाल पूछे। वे खामोश रहे और कोई जवाब नहीं दिया।

भाईजी का यह कहना कि अगर हम सब ईसाई हो जावें तब हमारा 'मन' इंग्लैंड का 'मुल्क' हो जावेगा, वह हमें अपना लेगी और हम उसके ढंग के स्वतंत्र हो जावेंगे, एक ऐसी अजीब बात है कि पढ़कर आश्चर्य होता है कि कोई भी ऐसा ख्याल रक्खे। इसके माने यह है कि भाईजी समझते हैं कि यूरप का आधुनिक साम्राज्यवाद ईसाई-धर्म कहलाने का है। इस गलती में तो शायद कोई स्कूल का बच्चा भी न पड़े। साम्राज्य-वाद से और धर्म से क्या संबंध? अबीसीनिया तो ईसाई-देश है और सब से पुराना ईसाई-देश है जब कि यूरपवाले तक ईसाई नहीं हुए थे। उस पर इटली का क्यों हमला? यूरप के ईसाई-देशों में आपस में पिछली बड़ी लड़ाई क्यों हुई? आयर्लैंड भी ईसाई-देश एक हजार वर्ष ऊपर से उस पर अंग्रेजी साम्राज्यवाद क्यों सात सौ बरस से चढ़ाई करता आया है।

देशों की जातीयता और सभ्यता को लीजिए। भाईजी मिस्र और ईरान की मिसाल देते हैं कि उन्होंने अपनी जातीयता को मिटा दिया और अपने को एक विदेशी जाति के अन्दर जज्ब करा दिया। मिस्र का हजारों वर्ष का पुराना इतिहास चला आता था और उसमें बहुत ऊँच-नीच

और तबादले और हमले और फतेह हुए थे—फिर करीब २२०० वर्ष हुए सिकंदर ने मिस्र फतेह किया और उसकी मृत्यु के बाद उसका एक जेनरल टोलोमी वहां का बादशाह हुआ। उसने मिस्र के देवता और आचार स्वीकार किये, केवल उनमें कुछ अपने ग्रीस के भी मिला दिये। मिस्र एक बड़ा केन्द्र ग्रीक-सभ्यता और संस्कृति का हो गया। फिर बहुत दिन बाद वह रोमन-साम्राज्य के अधीन हो गया। ईसाई मजहब वहाँ शुरू में ही यूरप के पहले फैला और कई सौ वर्ष तक रहा। बाद में इस्लाम वहाँ आया और उसकी आसानी से जीत हुई। इस समय मिस्र में अधिकतर मुसलमान हैं और कुछ पुराने, इस्लाम के पहले के, ईसाई हैं जो कोप्ट्स कहलाते हैं। इस्लाम भी वहाँ १२०० वर्ष से है। जब भाईजी कहते हैं कि मिस्र ने अपनी जातीयता को मिटा दिया तब उनका क्या मतलब है? पिछले ७००० वर्ष के इतिहास में किस जमाने को वे मिस्र की असली जातीयता का जमाना गिनते हैं?

ईरान में इस्लाम की जीत मिस्र की तरह जल्दी हुई। लेकिन जाननेवालों की राय यह है कि उससे ईरानी सभ्यता और संस्कृति दबी नहीं, बल्कि अरबी मुसलमानों-तक पर हावी आगई और अरबी खलीफा पुराने ईरानी बादशाहों की और बहुतेरे रवाजों की नकल करने लगे। यह ईरानी संस्कृति इतनी जोरदार थी कि उसका असर पश्चिमी एशिया से लेकर चीन तक लगातार कायम रहा। इस समय ईरान में इस्लाम के पहले की यह पुरानी संस्कृति लोगों को जोरों से आकर्षित कर रही है।

हमारे देश के पुराने इतिहास की तरफ एक झलक देखिए। आर्य्यों के आने के पूर्व कई सहस्र वर्ष तक यहाँ एक ऊँचे दर्जे की सभ्यता थी, जिसका छोटा-सा नमूना हमको मोहेनजोदारो में मिलता है। शायद उसका संबंध द्राविड-सभ्यता से हो जो स्वयं आर्य्यों के पहले की थी। फिर आर्य्य आये और द्राविड लोगों को हराया और उनपर हुकूमत

की। कुछ रवाज और धर्म के मामले में उनसे समझौता किया, कुछ अपने देवता उनके सामने रक्खे। इन समझौतों से एक मिली हुई हुई संस्कृति पैदा हुई जिसमें आर्य्यों का अधिक हिस्सा था। फिर और बहुत जातियाँ इस देश में हमला करके आईं, जिनमें खास तौर से कई तुर्की जातियाँ थीं, और यहाँ बस गईं। राजपूताने और काठियावाड़ के हमारे बहुतेरे राजपूत खानदान तुर्की खून रखते हैं। उस जमाने में दूसरे धर्म का सवाल नहीं था, क्योंकि मध्य-एशिया के ये तुर्की लोग सब बौद्ध थे। फिर भी वे अपने बहुतेरे रवाज और आचार यहाँ ले आये। इसी तरह से भारत में (और हर देश में ही) बहुत चश्मे और दरिया मुख्तलिफ देशों से बहकर आये और हमारी संस्कृति पर असर डालते गये। फिर इस्लाम फतेह की सूरत में आया और हम अपने को उससे बचाने के लिए सिकुड़ गये और अपनी संस्कृति की खिड़कियाँ, जो खुली रहती थीं, उनको बंद कर लिया।

भाईजी की राय में हमारी हिन्दू-जातीयता कब शुरू होती है? आर्य्यों के आने पर? यह क्यों? हम उनके पहले मोहेनजोदारों के जमाने को क्यों छोड़ दें, और फिर द्राविड़-जमाने को? क्या द्राविड़ लोगों को कहने का अधिकार नहीं है कि आर्य्य लोग बाहरी हैं जो आके यहाँ बलपूर्वक जम गये हैं। ऐसे बहुत सवाल उठ सकते हैं क्योंकि इतिहास में सभ्यता, संस्कृति, विचार-धारा—ये सब बहती हुई एक देश से दूसरे देश में जाती रहती हैं और एक दूसरे पर असर डालती हैं। उनके बीच में अलग करने को लकीर खींच देनी कठिन है। किसी भी जीवित चीज की यह निशानी है कि वह बढ़ती है और बदलती है। जहाँ उसका बढ़ना रोका वहाँ उसकी जान निकल गई। सभ्यता और संस्कृति भी इसी तरह उसी समय तक जिन्दा रहती हैं जब तक उनमें माद्दा है बदलती हुई दुनिया के साथ खुद भी कुछ बदलने का। सब से बड़ा सबक जो इतिहास हमको सिखाता है वह यह है कि कोई चीज एक-सी

नहीं रहती। हर समय बढ़ना, या घटना, क्रान्ति या इन्कलाब। जिस जाति ने इनसे बचने की कोशिश की और अपने को जकड़ लिया वह अपने ही बनाये हुए पिंजरे में कैदी बनकर सूखने लगी।

पहले जमाने में जब दूर का सफर करना कठिन था, देशों का एक दूसरे से संबंध कम था और इससे उनमें फर्क थे। जितना अधिक आना जाना हुआ उतना ही असर एक दूसरे पर पड़ा। आधुनिक दुनिया में रेल, मोटर, हवाई-जहाज ने सरहदें करीब-करीब मिटा दीं और दुनिया की एकता बढ़ा दी? किताबें, समाचार-पत्र, तार, रेडियो, सिनेमा इत्यादि हर वक्त हमपर असर डालते हैं और हमारे विचारों को हलके-हलके बदलते हैं। इनको हम पसंद करें या नापसंद करें, हम इनसे बच नहीं सकते। इसलिए इनको समझना चाहिए और इनको अपने काबू में लाना चाहिए।

इन सब बातों के लिए हमारा पुराना हिन्दूत्व क्या सलाह देता है, मैं भाईजी से पूछना चाहता हूं? वे धार्मिक सभ्यताओं और जातीयता की चर्चा करते हैं। लेकिन आधुनिक संसार की सभ्यता तो लोहे की मशीन की और जबर्दस्त कारखानों की है। उसको धर्म से क्या मतलब? और बगैर पूछे या बहस किये वह पुरानी मूर्तियों को गिराती हुई आगे बढ़ती जाती है। हिन्दुओं के जाति-भेद के मिटाने को बड़े आन्दोलन हुए, लेकिन सब से बड़ी क्रान्ति पैदा करनेवाली तो रेल है और ट्राम और लारी। उनमें कौन अपने पड़ोसी की जात देखता है?

पुराने इतिहास और आधुनिक संसार की राजनीति पर विचार करते हुए दिमाग में खयालात का एक हुजूम पैदा हो जाता है। कलम उनका साथ नहीं दे सकता। वह बेचारा तो धीरे-धीरे कागज पर काली लकीरें खींचता है, विचारों की दौड़ में बिलकुल पिछड़ जाता है। उसकी धीमी रफ्तार से उलझन पैदा होने लगती है। खैर यह मजमून बहुत लम्बा हुआ और, हालांकि नाकाफी है और नामुकम्मल है, अब इसका

खत्म करना ही मुनासिब है। संभव है कि फिर कागज-कलम और स्याही का सहारा लूँ और इन मजमूनों पर अपने फिरते हुए विचारों को शक्ल और सूरत दूँ। एक प्रार्थना फिर से दोहराता हूँ कि भाई परमानन्द अपने मानों पर ज्यादा रोशनी डालें और जिन बातों की तरफ मैंने इस लेख में इशारा किया है उनको साफ करें।*

*भाई परमानन्द के जिस लेख के उत्तर में यह लेख लिखा गया है, उसके लिए परिशिष्ट देखिए।

सर इकबाल के सवाल का जवाब

मैंने सर महम्मद इकबाल के स्पष्ट और उदार वक्तव्य को सावधानी से पढ़ा है और उनने जो अपने सवाल का उत्तर माँगा है, मुझे खुशी के साथ मंजूर है। लेकिन पहले मैं दूसरी गोलमेज-कांफ्रेंस की साम्प्रदायिक बातों वाली घटना का, जिसका सर महम्मद ने जिक्र किया है, हवाला दूँगा। मैं तो साफ ही इस परिस्थिति में नहीं हूँ कि अपनी जानकारी से इसके बारे में कुछ कहूँ। इसलिए, दूसरे, जो अच्छी तरह जानते हैं, अगर कोई गलत-फहमी हो गई हो, तो उसे अवश्य ही साफ कर देंगे। लेकिन, जब सर महम्मद गाँधीजी-द्वारा पेश की गई किसी शर्त को 'अमानुषिक शर्त' कहते हैं, तो मुझे पूरा इतमीनान हो जाता है कि वह भारी गलतफहमी में है।

सर महम्मद कहते हैं कि गाँधीजी अपनी व्यक्तिगत हैसियत से तो गोलमेज-कान्फ्रेंस के मुस्लिम प्रतिनिधियों की माँगों को स्वीकार करने को तैयार थे, लेकिन कांग्रेस-द्वारा अपनी बात कबूल करवाने की गारंटी नहीं दे सके थे। मुझे तो यह साफ मालूम होता है कि गाँधीजी या उनकी परिस्थिति के किसी भी दूसरे व्यक्ति के लिए कोई दूसरा

रास्ता लेना सम्भव नहीं था। एक लोक-तंत्र-वादी संस्था का कोई भी प्रतिनिधि और क्या कर सकता था ? कांग्रेस की कार्य-समिति भी कांग्रेस के प्रस्तावों से अलग नहीं जा सकती थी ; वह सिर्फ इस सवाल को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी या कांग्रेस के खुले अधिवेशन के, जिसके हाथ में अन्तिम अधिकार है, हवाले कर सकती थी। कांग्रेस के साधारण रुख की बात तो अलग रहे, यह तो सभी जानते थे कि भारत में मुस्लिम विचार-धारा का एक बड़ा हिस्सा—राष्ट्रीय मुसलमान—उन माँगों में से कुछ का विरोधी था। गाँधीजी ने, इंगलैण्ड के लिए प्रस्थान करने के पूर्व, हिन्दुस्तान में बार-बार कहा था कि इस सवाल के मुतल्लिक वह राष्ट्रीय मुसलमानों के प्रतिनिधि डाक्टर एम० ए० अंसारी के फैसले को कबूल कर लेंगे। उनने यह भी कहा था कि अगर दोनों मुस्लिम दलों में कोई समझौता हो गया, तो वह बिना किसी हिचकिचाहट के उसे मान लेंगे। इस काम में मदद पहुँचाने के लिए ही उन्होंने गोलमेज-कांफ्रेंस के प्रतिनिधि-सूची में डाक्टर अंसारी का नाम शामिल कर लेने पर बहुत जोर दिया था। लेकिन उनके इस लगातार अनुनय का लंडन में पहुँचे हुए मुस्लिम प्रतिनिधियों ने खुल्लमखुल्ला घोर विरोध किया। यह सब होते भी समझौते के लिए अन्तिम प्रयत्न-स्वरूप गाँधीजी ने इसे व्यक्तिगत हैसियत से मंजूर कर लिया। यह स्पष्ट है कि, हालाँकि वह कांग्रेस को बाध्य नहीं कर सकते थे, उनकी सिफारिश और दलीलें उसे पक्ष में ले आने के लिए गजब का प्रभाव डालतीं।

गाँधीजी-द्वारा पेश की गई दूसरी शर्त यह थी कि मुस्लिम प्रतिनिधि दलित-वर्गों की खास माँगों का समर्थन न करें। सर महम्मद के शब्दों में यह "एक अमानुषिक शर्त" थी, क्योंकि इसके मानी होते थे दलित-वर्गों का दलन जारी रखना। यह एक अनोखी सूझ है ! अगर गाँधीजी सदा-से लड़ते रहे और आज लड़ रहे हैं तो एक ही बात के लिए और वह यह कि दलित वर्गों का दलन, शोषण, उनकी किसी

किस्म की बाधाएँ सदा के लिए खत्म हो जायँ और वे किसी भी दूसरे दल के मुकाबिले में आ जायँ। उनके पृथक्करण का उन्होंने यह महसूस कर विरोध किया कि अगर वे अलाहदा हो गये, तो उनपर 'अलहदा' का चिन्ह लगा दिया जायगा और उनका दूसरों के साथ मिलना ज्यादा मुश्किल हो जायगा। यह सभी जानते हैं कि लंडन में दूसरी गोलमेज-कान्फ्रेंस के वक्त चन्द अल्प संख्यक दल के प्रतिनिधियों और ब्रिटिश अनुदारों (कंजरवेटिव) के बीच एक समझौता हुआ था। गाँधीजी ने मुस्लिम प्रतिनिधियों से साफ-साफ कहा था कि वे दलित वर्गों के पृथक्करण की माँग का समर्थन नहीं करें। जहाँ तक मैं जानता हूँ उन्होंने दलित वर्गों के विशेष और अधिक प्रतिनिधित्व की स्वीकृति का कभी विरोध नहीं किया है। बेशक उनका खयाल है कि उन्हें अपनी तरक्की और दूसरे उन्नत वर्ग और जातियों से मुकाबिला करने के लिए हर तरह की सुविधायें मिलें। बाद की घटनाओं ने दिखला दिया है कि इस तरफ कितना बढ़ने को वह तैयार हैं। चूँकि मैं साम्यवादी हूँ, इस दलील में मुझे कोई त्रुटि या अनौचित्य मालूम नहीं देती।

सर महम्मद को गाँधीजी की इस नीति में एक बुरी गंध का साफ शक है। उनका इशारा है कि गाँधीजी दलित वर्गों को उठाना नहीं, बल्कि दूसरी कौमों, खासकर, मैं समझता हूँ हिन्दुस्तान के मुसलमानों, के साथ मिलने देना नहीं चाहते। ऐसे शक या बुरी धारणा को, जिसका कोई कारण नहीं है, दूर करना मुश्किल है; लेकिन जो कोई भी गाँधीजी को थोड़ा भी जानता है वह इस बात को गलत कहेगा कि गाँधीजी का हरिजन-आन्दोलन एक राजनीतिक चाल है। व्यक्तिगत रूप में मुझे मजहबी लेबुलों में कोई दिलचस्पी नहीं है और मेरा निश्चय है कि इनका जल्द ही अन्त हो जायगा, या एक तरह से इन्हे कोई राजनीतिक महत्व मिलेगा ही नहीं। हाँ, सर महम्मद निश्चय इसको राजनीतिक महत्व देते है। मेरे जानते गाँधीजी ऐसा नहीं करते, लेकिन वह अवश्य धार्मिक

पुरुष हैं और हिन्दू धर्म के आवश्यक अंगों में विश्वास रखते हैं। वह बाह्य आडम्बरों का अन्त करने के लिए इन आवश्यक अंगों को पुनर्जीवित करना चाहते हैं। वह महसूस करते हैं कि अस्पृश्यता हमें ढकेलनेवाली और आजिज कर देनेवाली ढोंग है और इस वजह से वह इसके विरुद्ध लड़ते हैं। यह एकदम गलत है कि वह सवर्ण हिन्दुओं और दलित-वर्गों का मिलना पसंद नहीं करते। वह बेशक इसे पसंद करते हैं और पसद करते हैं भारत के सभी दूसरी-दूसरी कौमों का मिलना। लेकिन सर महम्मद की तरह वह भी सभ्यता के कुछ मूल-तत्वों के प्रेमी हैं, जिनको वे सुरक्षित, साथ ही उसके दूसरे पहलुओं को आजाद, रखना चाहते हैं।

मेरा अपना दृष्टिकोण अलग ही है। यह मजहबी नहीं है और मजहबी तौर से इन दलों के बारे में गौर करना मेरे लिए मुश्किल है। पर सर महम्मद दूसरी और अधिक आधुनिक विचार-प्रणाली की अवहेलना कर ऐसा करते हैं। मुझे डर है, वह मजहब, जाति और सभ्यता का गड़बड़-झाला पैदा कर देते हैं। शायद यही सबब है कि वह भौतिक विज्ञान की दलीलें (बायोलाजिकल आरगुमेंट) पेश करते हैं, जो मेरी समझ में बिल्कुल आती ही नहीं। वह गाँधीजी की, उनके दूसरी-दूसरी कौमों के साथ दलित-वर्ग का मिलना रोकने वाले 'कल्पित प्रयत्न' के लिए, निन्दा करते हुए भी एक ही साँस में कहते हैं कि उनकी राय में भारत के भिन्न-भिन्न फिरकों का एक होना एक हवाई खयाल है और जितना जल्द इसका अन्त हो, उतना ही अच्छा।

भारत के भिन्न-भिन्न फिरकों में भौतिक (बायोलाजिकल) मेल होगा या नहीं, इस सवाल से बहुत-सी बातें पैदा हो जाती हैं और यह खास कर तहजीब और विज्ञान के दृष्टि-कोण से देखने पर ही दिलचस्प मालूम होता है। यह सीधे-सीधे राजनीतिक सवाल नहीं है और इस समय इसके अध्ययन करने में ही मजा है। मेरी समझ से हम एक होने को लाचार होंगे ही, लेकिन कह नहीं सकता कि ऐसा कब होगा।

लेकिन इसे साम्प्रदायिक मामले से क्या वास्ता? क्या मुसलमान, सिक्ख, या हिन्दुस्तानी ईसाइयों के मजहबी दल भौतिक विज्ञान के नियमानुकूल हिन्दुओं के दल से अलहदा हैं? क्या हमलोग भिन्न-भिन्न जाति के प्राणी हैं, या एक ही मूल के? भारत में जाति और सभ्यता-सम्बन्धी विभिन्नताएँ हैं, लेकिन इनका मजहबी टुकड़ों से कोई सरोकार नहीं है। वे तो मजहबी टुकड़े बनानेवाली रेखाओं को मिटाती हैं। अगर एक आदमी एक मजहब से दूसरे मजहब में चला जाता है, तो वह न तो अपनी भौतिक बनावट, न जातीय विशेषताएँ और न एक बड़े हद तक संस्कृति-सम्बन्धी अपनी वस्तु-स्थिति ही बदलता है। संस्कृति के किस्म राष्ट्रीय होते हैं न कि मजहबी और आधुनिक परिस्थितियाँ उस अन्तर्राष्ट्रीयता का रूप देने जा रही हैं। भूतकाल में भी जुदा-जुदा तहजीबों ने एक दूसरे पर असर डाला और अपनी मिश्रित किस्में पैदा कीं, लेकिन कायदे के मोताबिक राष्ट्रीय तहजीब की ही प्रधानता रही। निश्चय ही अपनी-अपनी संस्कृति रखनेवाले चीन, फारस और भारत के देशों में ऐसा हुआ।

मुस्लिम संस्कृति क्या है? यह सेमिटिक-अरबी संस्कृति है या आर्य फारसी संस्कृति या दोनों का मिश्रण? अरबी संस्कृति अपने शौर्य के युग के बाद पीछे पड़ गई। लेकिन अपने विजय के यौवन-काल में भी वह फारसी संस्कृति से बहुत ज्यादा प्रभावित हुई। पर भारत पर इसका बहुत कम असर पड़ा। फारसी संस्कृति इस्लामी युग से निश्चय ही पुरानी है और इतिहास का एक ध्यान देने योग्य सबक यह है कि यह ईरानी सभ्यता और विचार-परम्परा हजारों वर्ष तक कायम रही। आज भी फारस इस्लाम से पूर्व वाले युग की ओर अपनी संस्कृति-संबंधी प्रोत्साहन के लिए देख रहा है। इस फारसी संस्कृति ने सचमुच हिन्दुस्तान पर अपना प्रभाव डाला और खुद उससे प्रभावित हुई। इतना होने पर भी हिन्दुस्तानी संस्कृति ही हिन्दुस्तान में प्रधान रही और दूसरे-दूसरे जो यहाँ आए, उनपर भी अपना छाप डाला।

आज हिन्दुस्तान में हिन्दू और मुस्लिम जनता के दरमियान कोई संस्कृति-सम्बन्धी या जाति-सम्बन्धी भेद एकदम नहीं है। उत्तर भारत के मुट्ठी-भर ऊँची श्रेणी के मुसलमानों पर भी, जो शायद अपने को सारे मुल्क से न्यारा समझते हैं, भारत का छाप है और उनका दिखावा सिर्फ ऊपर से फारसियाना है। क्या वे फारस, अरब, टर्की या दूसरे इस्लामी मुल्कों के वातावरण में ज्यादा सुविधापूर्वक, स्वाभाविक ढंग से और घर-जैसा रह सकेंगे?

सच बात तो यह है कि यह सवाल सिर्फ ऐतिहासिक और अध्ययन की दिलचस्पी के लिए रह गया है, क्योंकि आधुनिक औद्योगिक अवस्था, यात्रा की विशेष सुविधाओं, और तरह-तरह के लोगों के अक्सर मेल-मिलाप ने एक अन्तर्राष्ट्रीय किस्म की सभ्यता की उत्पत्ति कर दी है, जिसने राष्ट्रीय सभ्यताओं की सीमाओं को बहुत अंशों में मिटा दिया है। क्या सर महम्मद इकबाल का मध्यएशिया, टर्की, मिस्र और फारस में जो कुछ हो रहा है, पसन्द है? या क्या वह यह सोचते हैं कि जो शक्तियाँ इस्लामी मुल्कों का नये ढंग से निर्माण कर रही हैं, उनसे हिन्दुस्तानी मुसलमान अछूते रहेंगे? वह इसे पसन्द करें या नहीं, संसार की ताकतें प्राचीन और असामयिक चीजों का ध्वंस तथा नवीन का निर्माण करती ही जायँगी। व्यक्तिगत रूप में मैं इस तरीके को पसंद करता हूँ, हालाँ कि दुनिया का कोई स्टैंडर्ड होना और उसका एक किस्म का हो जाना मुझे पसंद नहीं है। मैं चाहता हूँ कि दुनिया की भिन्न-भिन्न संस्कृतियाँ अपनी परम्परागत विशेषताओं को रखें और साथ ही नवीन परिवर्त्तनों के मोताबिक अपने को बदलती भी जायँ।

जहाँ तक भारत का सम्बन्ध है, मेरा विश्वास है कि यहाँ सिर्फ एक संयुक्त भारतीय राष्ट्र का होना सम्भव ही नहीं, बल्कि ऊपरी अनेक भेदों के रहते भी यह मूलत सभ्यता की दृष्टि से एक राष्ट्र मौजूद है। वर्त्तमान साम्प्रदायिक समस्या तो एकदम भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के ऊँची श्रेणी के कुछ दलों की राजनीतिक सृष्टि है। उन्हे ज.ती-

यता अथवा संस्कृति से कोई सम्बन्ध नहीं है और न जनता की मौलिक आवश्यकताओं से ही उसका कोई सरोकार है। अब मैं सर महम्मद के, मुझसे किए गए, सवाल पर आता हूँ। मेरे और उनके दृष्टिकोणों में बहुत बड़ा अन्तर है। मैं मजहबी अल्पमत और बहुमत की निगाह से कुछ सोचने में असमर्थ हूँ। इसलिए हो सकता है कि हमलोगों की बातचीत में जिन शब्दों या वाक्यांशों का प्रयोग हो, उनके माने जुदा-जुदा हों। लेकिन इस समय मैं सर महम्मद के मतलब के शब्दों का ही प्रयोग करने की कोशिश करूँगा।

मैं भारत या भारतीय जनता से सरोकार रखनेवाले किसी भी प्रमुख मामले को बाहरी के हाथों में फैसला के लिए छोड़ने को तैयार नहीं हूँ और उस साम्राज्यवादी ताकत के हाथ में तो हरगिज नहीं, जो हम पर हुकूमत करती है और हमारी कमजोरी तथा मनमुटावों से हमारा नाश करती है। मैं सहमत हूँ कि बहुसंख्यक सम्प्रदाय अल्पसंख्यक की रक्षा के लिए उसके कम-से-कम आवश्यक संरक्षणों को कबूल कर ले, लेकिन ये कम-से-कम संरक्षण क्या हैं? और उनका फैसला करनेवाला कौन है? खुद अल्प-संख्यक ही? साधारण कायदे के मोताबिक मैं इसपर भी सहमत होने को तैयार हूँ, हालाँकि इसके कुछ अपवाद राष्ट्र से सरोकार रखने वाले खास मामलों में हो सकते हैं। इस वक्त उन अपवादों को भी हम हटा सकते हैं। लेकिन हमें यह मालूम कैसे होगा कि अल्पमत वाले असल में चाहते क्या हैं? क्या मैं किसी भी छोटे दल की, जो अपने को समूचे सम्प्रदाय का प्रतिनिधि मान बैठता है, राय मान लूँ? और जब ऐसे कई दल हैं, तब हम क्या करें? न तो मुस्लिम लीग और न मुस्लिम कान्फ्रेंस ही अपने को प्रातिनिधिक संस्थायें या लोकतंत्रवादी कह सकती हैं। एक काफी तादाद के मुसलमान उनकी माँगों के विरुद्ध हैं। मुस्लिम-लीग की कौंसिल लो—हालाँ कि कौंसिल का कोई पता-चता नहीं है और उसके पीछे कोई दूसरी संस्था भी नहीं है—करीब-करीब खुद चुने हुए और

स्थायी सदस्यों की या आप नाम जद करनेवाली जमात है। मुस्लिम कांफ्रेंस में तो उसके विधान के अनुसार ही सरकारी एसेम्बलियों के मुस्लिम सदस्यों की प्रधानता है। ये संस्थायें भारत के मुसलमानों और खास कर मुस्लिम जनता का प्रतिनिधित्व करने का दावा कैसे कर सकती हैं? वे मौके-बेमौके अपने उद्गारों का इजहार-मात्र कर सकती हैं। फिर क्या हम कुछ व्यक्तियों के एक गिरोह को, जिसको हमपर हुकूमत करनेवाली साम्राज्यशाही ताकत ने चुनकर गोलमेज-कान्फ्रेंस में भेजा, मुस्लिम जनता का प्रतिनिधि मान लें? वे सम्माननीय व्यक्ति हो सकते हैं, लेकिन उन्हें प्रतिनिधित्व करने का अधिकार हरगिज नहीं है।

हिन्दुस्तान में मुसलमानों की इच्छा जानने का एक मात्र रास्ता उनसे सीधे राय लेने का है। इसके लिए लोकतन्त्रवादी तरीका यह है कि जहाँ तक सम्भव हो, वे प्रशस्त-से-प्रशस्त मताधिकार—बालिग मताधिकार उत्तम है—से अपने प्रतिनिधि चुनें। और वे मिलकर जो कुछ भी फैसला कर देंगे, मैं मानने को एकदम तैयार हूँ।

मैं चाहता हूँ कि सर महम्मद अपनी चौदह माँगोंवाली फिहरिस्त को, जिसके बारे में कहा जाता है कि मुसलमानों की रक्षा के कम-से-कम आवश्यक संरक्षण दिये हुए हैं, गौर कर देखें और उनमें जन-साधारण के फायदे की कोई भी बात हो तो बतावें। जैसा वह जानते हैं, राजनीति में मेरी खास दिलचस्पी है जनता को उठाना, श्रेणी और सम्पति की रेखाओं का अन्त करना और समाज में समानता लाना। चौदह माँगों के निर्माता और उनकी वकालत करनेवालों ने कभी इस बात पर गौर ही नहीं किया। यह स्वाभाविक है कि उन्हें देखकर मुझे कुछ उत्साह नहीं मिलता। अगर मुसलमान लोग लोकतंत्रवादी ढंग से, जैसा कि मैंने राय दी है, उनकी घोषणा करें, तो मैं उन्हें कबूल कर लूँगा और मुझे निश्चय है उन्हें समूचा राष्ट्र भी स्वीकार कर लेगा। फिर भी मैं समझता हूँ, जब मुस्लिम जनता से राय ली जायगी, तो वह आर्थिक माँगों पर, जिनकी पूर्ति के अभाव में वह गैर-मुस्लिम जनता के

साथ ही तबाह है, ऊँची श्रेणी के मुट्ठी-भर आदमियों के स्वार्थ को पूरा करने वाली इन माँगों की अपेक्षा ज्यादा जोर डालेगी।

हिन्दुस्तान की राजनीतिक समस्या का हल सिर्फ हिन्दुस्तानियों-द्वारा, बगैर किसी बाहरी अधिकारी के दखल दिये, हो सकता है। और साम्प्रदायिक मसले का भी। इन दोनों को सुलझाने का एकमात्र रास्ता खुद जनता के पास जाना है। बालिग मताधिकार या उसके निकटतम किसी मताधिकार द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियों की सभा (कंस्टिच्युएंट एसेम्बली) ही सेयासी मामले का फैसला कर सकती है। व्यक्तिगत रूप में मैं इस सभा के चुनाव, जो अल्पमत वाले चाहें तो, पृथक निर्वाचन-पद्धति द्वारा करवाने के लिए तैयार हूँ। इन अल्पमत वालों के उस तरह चुने गये प्रतिनिधियों को उनके बारे में बोलने का पूरा हक होगा और तब कोई नहीं कह सकेगा कि बहुमत वालों ने उनके इस चुनाव में दखल दिया है। इन्हें आप साम्प्रदायिक प्रश्न पर गौर करने दीजिए, और जैसा कि मैंने ऊपर कहा है, मै मुस्लिम प्रतिनिधियों-द्वारा पेश की गई माँगों को कबूल कर लूँगा।

सर महम्मद कहेंगे कि मैं उनके सामने एक लोकतंत्रवादी और व्यावहारिक तरीका इस समस्या के हल का रख रहा हूँ, और कांग्रेस को भी इससे अलग ही रखा है। मुझे निश्चय है कि अगर यह तरीका काम में लाया जाय तो कांग्रेस बा-खुशी अपने को अलग कर लेगी।

इसलिए सर महम्मद इकबाल के सवाल का मेरा जवाब यह है। मैं नहीं मानता कि उनके बताये गये दो तरीकों के अलावा कोई तीसरा तरीका है ही नहीं। बहुतेरे दूसरे तरीके भी हैं। किसी भी हालत में उन्हें अच्छी तरह जान लेना चाहिए कि अगर कोई भी सम्प्रदाय—अल्पमत या बहुमत—साम्राज्यवाद के साथ समझौता करना चाहता है, तो उसे भारतीय राष्ट्रीयता की जबर्दस्त और लगातार मुखालफत का सामना करना पड़ेगा। दर-असल कोई भी सम्प्रदाय या अल्पमत ऐसा नहीं कर सकता है। सिर्फ ऊपर क्लास वाले चन्द लीडराने ही ऐसा कर

सकते हैं, क्योंकि हर सम्प्रदाय की जनता उससे तबाह है। जनता साम्राज्यवाद से कभी समझौता नहीं कर सकती, क्योंकि उसकी तो उसकी जंजीरों से छुटकारा पाने पर ही एक मात्र आशा लगी है।

मैं हिन्दुस्तान के मजहबी बँटवारे में भी विश्वास नहीं रखता। ये बँटवारे सर्वथा अवाछनीय हैं और आधुनिक संसार में होने वाली चीज नहीं हैं। लेकिन मैं भिन्न-भिन्न प्रांतों के पुनर्विभाजन या नव-निर्माण, जो भिन्न-भिन्न सांस्कृतिक दलों को अपने विकास का पूरा अवसर देंगे, के विरुद्ध नहीं हूँ।*

इलाहाबाद

दिसम्बर ११, १९३३

*रीसेंट एसेज एँड राइटिंग्स से उद्धृत तथा अनूदित

साहित्यिक

शब्दों का अर्थ

एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद करना बहुत कठिन काम है, और सच पूछिये तो जरा भी गहरी बातों का ठीक-ठीक अनुवाद हो ही नहीं सकता। किसी भाषा का क्या काम है? वह हमको सोचने में मदद करती है। (भाषा तो एक तरह से जमे हुए विचार हैं। उसके द्वारा हवाई खयालात एक मूर्ति बन जाते हैं।) उसका दूसरा काम यह है कि उसके जरिये हम अपने विचारों का इजहार कर सकें और उनको औरों तक पहुँचा सकें; दो या अधिक आदमियों में खयालात की आमदरफ्त हो। भाषा और भी कई तरह से काम में आती है; लेकिन इसमें बिलफेल हमें जाने की आवश्यकता नहीं है। एक शब्द या एक फिकरा हमारे दिमाग में किसी-न-किसी मूर्ति की शक्ल में आता है। मामूली सीधे-सादे शब्द से, जैसे मेज, कुर्सी, घोड़ा, हाथी, आदि से, आसान और साफ मूर्तियाँ बनती हैं, और जब हम उनको कहते हैं, तब सुननेवालों के दिमागों में भी अकसर करीब-करीब वैसी ही मूर्तियाँ बन जाती हैं। इससे हम कह सकते हैं कि वे हमारे मानी समझ गये।

लेकिन जहाँ हम इन सीधे और आसान शब्दों से आगे बढ़े, वहाँ फौरन पेचीदगी पैदा हो जाती है। एक मामूली फिकरा भी दिमाग में

कई तसवीरें पैदा करता है, और यह सम्भव है कि सुननेवाले के दिमाग में कुछ और ही तसवीरें पैदा हों। बहुत-कुछ दोनों की मानसिक शक्ति पर निर्भर है—उनकी पढ़ाई पर, उनके तजुर्बे पर, उनके इल्म पर, उनकी प्रेरणाओं पर और उनके जज़बात पर। अब एक कदम और आगे बढ़िये और ऐसे शब्द लीजिए, जो abstract (अमूर्त) और पेचीदा हैं, जैसे सत्य, सौन्दर्य, अहिंसा, धर्म, मजहब इत्यादि। हम रोज सैकड़ों दफे इन शब्दों का प्रयोग करते हैं; लेकिन अगर हमको उनके मानी पूरी तौर से समझाने पड़ें, तो हमें काफी कठिनाई हो। हम यह देख सकते हैं कि ऐसे शब्द दो आदमियों के दिमाग में कभी एक-सी मूर्तियाँ या तसवीरें पैदा नहीं करेंगे। इसके मानी यह हैं कि हम अपने मानी दूसरे को नहीं समझा सके, हालाँकि हम दोनों बात एक ही कहते हैं; पर दोनों का अर्थ अलग-अलग है। यह दिक्कतें बढ़ती जायँगी, जितने अधिक पेचीदा और abstract विचार हम पेश करेंगे, और यह भी हो सकता है (और हुआ है) कि हम इसी गलतफहमी की वजह से आपस में लड़ें और एक दूसरे का सिर फोड़ें।

यह सब कठिनाइयाँ दो ऐसे आदमियों में भी, जो एक ही भाषा के बोलनेवाले हैं, सभ्य और पढ़े हुए हैं और एक ही संस्कृति के पले हुए हैं, पैदा हो सकती हैं। अगर एक पढ़ा और दूसरा अनपढ़ और जाहिल हुआ, तब उनके बीच में बड़ा भारी फासला हो जाता है, और उनका एक दूसरे को पूरी तौर से समझना असम्भव हो जाता है—वे दो दुनियाओं में रहते हैं।

लेकिन यह सब कठिनाइयाँ छोटी मालूम होती हैं, जब हम इनका मुकाबला करते हैं ऐसे दो आदमियों से, जो अलग-अलग भाषाएँ बोलते हैं और एक दूसरे की संस्कृति को अच्छी तरह से नहीं जानते। उनके मानसिक विचारों में, दिमागी तसवीरों में तो जमीन-आसमान का फरक है। वे एक दूसरे को बहुत कम समझते हैं। फिर आश्चर्य क्या,

जब वे एक दूसरे पर भरोसा न करे, एक दूसरे से डरें या आपस में लड़े ?

एक भाषातत्वज्ञ (Philologist) प्रोफेसर जे० एस० मेकनजी ने, जिन्होंने भाषाओं पर और उनके सम्बन्ध पर बहुत गौर किया है, लिखा है—

"An English man, a French man, a German and an Italian cannot by any means bring themselves to think quite alike, at least on subjects which involve any depth of sentiment they have not the verbal means."

यह याद रखने की बात है कि एक अंगरेज, एक फरासीसी, एक जर्मन और एक इटालियन एक ही संस्कृति की औलाद हैं और उनकी भाषाओं में बहुत करीब का सम्बन्ध है। फिर भी यह कहा जाता है कि वे किसी तरह से किसी गहरे विषय पर एक-सा नहीं सोच सकते, क्योंकि उनकी भाषाओं में अन्तर है । अगर यह हाल उनका है, तो एक हिन्दुस्तानी और एक अंगरेज का या उनकी भाषाओं का क्या कहा जाय ? धोती-कुर्ता पहनने से एक अंगरेज हिन्दुस्तानी की तरह नहीं सोचने लगता और न कोट-पतलून पहनने और छूरे-काँटे से खाने से एक हिन्दुस्तानी यूरप की सभ्यता को ही समझ जाता है।

जब एक दूसरे को समझने में यह कठिनाइयाँ हैं, तब बेचारा अनुवादक क्या करे ? कैसे इन मुसीबतों को हल करे ? पहली बात तो यह है कि वह इनको महसूस करे और यह जान ले कि अनुवाद करना सिर्फ कोष को देखकर लफ्जी मानी देना नहीं है। उसको दोनों भाषाओं को अच्छी तरह समझना है, और उनके पीछे संस्कृति है, उसको भी जानना है। उसको कोशिश करनी चाहिए कि वह अपने को भूल जाय और मूल

लेखक की विचार-धाराओं में गोते खाकर फिर उन विचारों को अपने शब्दों में दूसरी भाषा में लिखे।)

मेरा खयाल है कि हमारे अनुवादक लोग इस गहराई में जाने की कोशिश करते हैं, और ज्यादातर अखबारी तौर पर अनुवाद करते हैं। अकसर ऐसे शब्द और फिकरे मुझे हिन्दी में मिलते हैं, जिनको देखकर मुझे अश्चर्य होता है। 'ट्रेड यूनियन' (trade union) का अनुवाद मैंने 'व्यापार-संघ' पढ़ा। यह शब्दों के हिसाब से बिलकुल सही है। लेकिन जो इस चीज को नहीं जानता, वह कभी नहीं समझ सकता कि व्यापार-संघ व्यापारियों का नहीं, बल्कि मजदूरों का है। ट्रेड यूनियन शब्दों के पीछे सौ बरस से अधिक का इतिहास है। जो उसको कुछ जानता है, वह समझेगा कि कैसे यह नाम पड़ा। फ्रांस में यह नाम नहीं है, न इसका अनुवाद है। वहाँ इसको 'सिंडिकेट' कहते हैं। अगर फ्रेंच से हिन्दी में अनुवाद हो, तो क्या हम उसे 'सिंडिकेट' कहेंगे या कुछ और? यह तो बिलकुल सीधा-सा उदाहरण है। असल कठिनाई तो ज्यादा पेचीदा बातों में आती है।

दूसरी बात यह है कि अनुवादक लोग जहाँ तक हो सके, छोटे और आसान शब्दों का प्रयोग करें, जिनके कई मानी न हों, जो कि धोखा दे सकें। फिकरे लम्बे-चौड़े न हों। दुनिया की अनेक भाषाओं में जो प्रसिद्ध साहित्य की पुस्तकें हैं, उनका अनुवाद प्रायः बहुत भाषाओं में हो गया है, और बहुत अच्छी तरह से हुआ है। कोई वजह नहीं मालूम होती कि हिन्दी में भी ऐसे ही अच्छे अनुवाद क्यों न हों। मुझे तो पूरी आशा है कि जब हमारे साहित्यकार इधर ध्यान देंगे, तो यह आवश्यक कार्य भी सफल होगा। बड़ी कठिनाई तो यह है कि हमारे विश्वविद्यालयों के बी० ए० और एम० ए० अंगरेजी बहुत कम जानते हैं, और अन्य विदेशी भाषाएँ तो जानते ही नहीं।

साहित्य की मामूली किताबें अनुवाद हो सकती हैं; लेकिन धर्म और दर्शनशास्त्र की तथा ऐसे ही अमूर्त (ऐबस्ट्रैक्ट) विषयों की किताबों

का ठीक अनुवाद करना तो असम्भव मालूम होता है। उनमें ऐसे शब्द आते हैं, जिनके बहुत-से जुदा-जुदा मानी होते हैं—एक पोशाक दर्जनों आदमी पहनते हैं, उनको पहचानें कैसे ? वे एक शब्द होने पर भी एक शब्द नहीं हैं और तरह-तरह की तसवीरें दिमागों में पैदा करते हैं—जैसे सौन्दर्य, सत्य, धर्म, मजहब वगैरह। सौन्दर्य को ही लीजिये। औरत का, प्रकृति का, किसी विचार किसी का, कला का, सत्य का, फिकरे का, चाल-चलन का, उपन्यास का—ऐसे ही अगणित प्रकार के सौन्दर्य कहे जा सकते हैं। इन सब बातों में एकता क्या है ? अगर यह कहा जाय कि जो चीज लोगों को पसन्द हो और उनको प्रसन्न करे, उसीमें सौन्दर्य है, तो वह तो एक बिलकुल गोल बात हो गई, फिर लोगों की राय एक-सी नहीं होती।

हर भाषा में बहुत-से शब्द ऐसे गोल हैं, जिनके कई मानी हो सकते हैं। कुछ ऐसे हैं, जो कि बिलकुल खराब हो गये हैं, और जिनके खास मानी रहे ही नहीं। कुछ भिखमंगे शब्द हैं, जिनकी निस्बत मैथ्यू आर्नल्डने कहा था—"Terms thıown out, so to speak, at a not fully grasped object of the speakeıs conciousness" कुछ शब्द खानाबदोश (nomads) होते हैं, जो इधर-उधर फिरते हैं, जिनके कोई खास मानी नहीं हैं।

ऐसे शब्द हर भाषा में होते हैं, और जिन लोगों के विचार साफ नहीं होते, वे खास तौर से इनका प्रयोग करते हैं। वे अपने दिमाग की कमजोरी को लम्बे और गोल और किसी कदर बेमानी शब्दों में छिपाते हैं। जिस भाषा में ऐसे शब्दों का अधिक प्रयोग हो (मेरा मतलब इस समय सौन्दर्य, सत्य आदि से नहीं है), उसकी शक्ति कम हो जाती है, उसके साहित्य में तलवार की तेजी नहीं होती, और न वह तीर की तरह से कमान को छोड़कर अपना मतलब हल करता है।

हम कोशिश कर सकते हैं कि इन घिसे हुए, भिखमंगे और आवारा शब्दों को हम अपने बोलने और लिखने में, जहाँ तक हो सके, पनाह न

दें। अपराध तो बेचारे शब्दों का क्या है, वे तो कम सीखे हुए अनुशासन-रहित दिमागों के हैं। बोलनेवाले और लिखनेवाले भाषा को बनाते हैं; लेकिन फिर उतना ही असर उस भाषा का उन नये आदमियों पर होता है, जो उसका प्रयोग करते हैं। पुरानी भाषाओं में—संस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि में—शब्दों या विचारों की ढील बहुत कम मिलती है, उनमें एक चुस्ती और हथियार की-सी तेजी पाई जाती है; और बेकार शब्द बहुत कम मिलते हैं। इससे उनमें एक शान और Dignity (बड़प्पन) आ जाती है, जो कि खास असर पैदा करती है, आजकल की भाषाओं में शायद फ्रेंच सब से अधिक साफ-सुथरी है, और फ्रेंच लोग प्रसिद्ध हैं अपने अनुशासन (Discipline) और अपने विचारों को बहुत शुद्धता से प्रकट करने के लिए।

जो किसी कदर निकम्मे शब्द हैं, उनका सामना तो हम इस तरह से करें; लेकिन जो हमारे ऊँचे दर्जे के abstract शब्द हैं, उनका क्या किया जाय? वे हमें प्रिय हैं, वे हमारे लिए जरूरी हैं, और अकसर हमें उभारने में वे सहायता देते हैं। लेकिन फिर भी वे गोल हैं और कभी-कभी इतने मानी रखते हैं कि बेमानी हो जाते हैं। ईश्वर ही के खयाल को लीजिए। हर मजहब में और हर भाषा में उसकी तारीफ में हजारों शब्द कहे गये हैं। मालूम होता है कि इंसान का दिमाग इस खयाल को समझ नहीं सका और अपनी कमजोरी छिपाने को कोष खोलकर जितने बड़े और जोरदार शब्द मिले, वे सब ईश्वर के मत्थे डाल दिये गये। उन सब शब्दों का अर्थ समझना मानसिक शक्ति के बाहर था, लेकिन बहुत-कुछ कह और लिख देने से एक तरह का सन्तोष हुआ कि हमने अपना फर्ज अदा कर दिया और कम-से-कम ईश्वर को अब हमसे कोई शिकायत नहीं करनी चाहिए'। अल्लाह के हजार नाम हैं, गोयाकि नाम बढ़ाने से असलियत ज्यादा साफ हो जाती है। God को अंगरेजी में absolute, omnipotent, omniscient, omnipresent, perfect, unlimited, immutable, eternal

इत्यादि कहते हैं। यह सब सुनकर किसी कदर दिल सहम अवश्य जाता है; लेकिन अगर इन शब्दों पर कोई गौर करने की धृष्टता करे, तो उसकी समझ में बहुत कुछ नहीं आता। मनोविज्ञान के प्रसिद्ध अमेरिकन पंडित विलियम जेम्स ने लिखा है—

"The ensemble of the metaphysical attributes imagined by the theologian is but a shuffling and matching of pedantic dictionary adjectives. One feels that in the theologians hands they are only a set of titles obtained by a mechanical manipulation of synonyms; verbality has stepped into the place of vision, professionalism into that of life."

इसी तरह से इटालियन दार्शनिक क्रोस ने परेशान होकर sublime शब्द के मानी यह बतलाये हैं—"The sublime is every thing that is or will be so called by those who have employed or shall employ the name." इसके बाद कुछ ज्यादा कहने की गुंजाइश नहीं रह जाती, और हर एक को इतमीनान हो जाना चाहिए।

हर सूरत से यह ऊँचे दर्जे की हवाई—sublime—बातें मामूली आदमी की पहुँच के बाहर हैं। बड़े पंडित और आचार्य तय करें कि abstract शब्दों का कब प्रयोग हो और उनका कैसे अनुवाद हो। लेकिन फिर भी हम मामूली आदमियों को यह नहीं भूलना चाहिए कि शब्द खतरनाक वस्तु है, और जितना ही वह abstract है, उतना ही वह हमको धोखा दे सकता है। और शायद सब से अधिक खतरनाक शब्द धर्म या मजहब है। हर एक आदमी अपने दिल में अलग ही उनके मानी निकालता है। हर एक के मन में नई तसवीरें रहा करती हैं। किसीका ध्यान मन्दिर, मसजिद या गिरजे पर जावेगा, किसीका चन्द पुस्तकों पर, या पूजा-पाठ पर, या मूर्ति पर, या दर्शनशास्त्र पर, या

रिवाज पर, या आपस की लड़ाई पर। इस तरह से एक शब्द लोगों के दिमागों में सैकड़ों अलग-अलग तसवीरें पैदा करेगा और उनसे तरह-तरह के विचार निकलेंगे। यह तो भाषा की कमजोरी मालूम होती है कि एक ही शब्द ऐसा असर पैदा करे। होना तो यह चाहिए कि एक शब्द का सम्बन्ध एक ही मानसिक तसवीर से हो। इसके मानी यह हैं कि धर्म या मजहब के सौ टुकड़े हों और हर एक टुकड़े के लिए अलग शब्द हों। सुनने में आया है कि अमेरिका की पुरानी भाषा में प्रेम करने के लिए दो सौ से अधिक शब्द थे। उन सब शब्दों का हम अब कैसे ठीक अनुवाद कर सकते हैं।

शब्दों के प्रयोग के बारे में किसी कदर महात्मा गांधी भी गुनहगार हैं, यों तो जो कुछ वे कहते हैं या लिखते हैं, वह साफ-सुथरा और बाअसर होता है। उसमें फिजूल शब्द नहीं होते और न कोई कोशिश होती है सजावट देने की। इसी सफाई में उसकी शक्ति है। लेकिन जब वे ईश्वर या सत्य या अहिंसा की चर्चा करते हैं,—और वे अकसर करते हैं,—तब उस मानसिक सफाई में कमी हो जाती है। God is truth, Truth is God, non-violence is truth, truth is non-violence,—ईश्वर सत्य है, सत्य ईश्वर है, अहिंसा सत्य है, सत्य अहिंसा है—यह सब उन्होंने कहा है। इस सब के कुछ-न-कुछ मानी अवश्य होंगे; लेकिन वे साफ बिलकुल नहीं हैं। मुझको तो इस तरह के शब्दों का प्रयोग करना उनके साथ कुछ अन्याय करना मालूम होता है।

अल्मोड़ा जेल

१-८-३५

हिन्दी-साहित्य का अन्य भाषाओं के साहित्यों से सम्बन्ध

एक दफे मैंने आपस की बातचीत में यह कहा था कि पिछले चालीस या पचास वर्ष में हमारी प्रान्तीय भाषाओं में बँगला, मराठी और गुजराती ने हिन्दी से अधिक तरक्की की है। इस बात से हिन्दी के कुछ साहित्यकारों को दुख हुआ था, और वे मुझसे अप्रसन्न हुए थे। मेरा तो बिलकुल ही यह खयाल या इरादा न था कि मैं हिन्दी की शान के खिलाफ कोई बात कह रहा हूँ; लेकिन मेरे मानी साफ नहीं थे, इसीलिए शायद कुछ लोगों को गलतफहमी हो गई। उसके बाद मुझे मालूम हुआ कि मुझसे अधिक जाननेवाले लोगों की भी कुछ ऐसी ही राय है, इसीलिए इस बारे में लिखने की हिम्मत करता हूँ।

मेरा मतलब हिन्दी के पुराने साहित्य से नहीं था, और यह भी मैं जानता हूँ कि आजकल हिन्दी में जाग्रति और अच्छी तरक्की हो रही है। मेरा खयाल यह था कि यह नई जाग्रति हमारी प्रान्तीय भाषाओं में सब से पहले बँगला में, फिर मराठी और गुजराती में हुई और बाद में हिन्दी में। इस वजह से बँगला, मराठी और गुजराती शुरू में कुछ आगे

बढ़ गई। यह जाग्रति सब भाषाओं में क्यों हो रही है, इसके बहुत-से कारण हैं। मोटी वजह तो यही है कि नये विचारों ने आकर इसको पैदा किया। किसी देश की भाषा और संस्कृति में तथा उसकी राजनीतिक हालत में बहुत नजदीकी सम्बन्ध है। शायद अंगरेजी कवि मिल्टन ने कहीं लिखा है कि मुझको किसी देश की भाषा दिखाओ और बगैर कुछ और जाने हुए मैं तुमको बतला दूँगा कि वह देश कैसा है—आजाद या गुलाम, ऊँचे दर्जे का या असभ्य, बलवान या कमजोर, बहादुर या डरपोक।

हमारा देश जब गिरा, तब हमारी भाषाएँ भी गिरीं, और बहुत दिनों तक गिरी रहीं। जब देश जागने लगा, तब भाषाएँ भी उठीं। यह जागने का सिलसिला सब से पहले बंगाल में शुरू हुआ। वहाँ नये खयालात आये—अधिकतर यूरप की तरफ से, और उन्होंने नई जान पैदा की। हमारी राजनीतिक संस्थाएँ तो उस समय अपना सारा काम अंगरेजी में करती थीं। फिर भी उसका कुछ-न-कुछ असर छनकर प्रान्तीय भाषाओं पर पड़ा—पहले बँगला, फिर मराठी और गुजराती और उसके बाद हिन्दी पर। हिन्दी कोई अपने पुराने साहित्य की कमजोरी से पिछड़ी हुई नहीं थी, बल्कि इसलिए कि हिन्दी-प्रान्तों में राजनीतिक जाग्रति देर में हुई, और हम दूसरे प्रान्तों की जाग्रति से जल्दी फायदा न उठा सके, क्योंकि भाषाओं का एक दूसरी के साथ काफी सम्बन्ध नहीं था।

हमें इस अनुभव से लाभ उठाना चाहिए, और देश की सब भाषाओं में किसी तरह का सम्बन्ध पैदा करना चाहिए। उनके साहित्यकारों की एक संस्था बने, जिसकी बैठक कभी-कभी हुआ करे। इससे आपस का द्वेष मिट जायगा और मेल बढ़ेगा और एक दूसरे की तरक्की में मदद मिलेगी। विचार-धाराएँ देश-भर में तेजी से फैलेंगी और हमारी एकता बढ़ेगी। मैंने सुना है कि इसके आरम्भ करने का कुछ प्रयत्न हो रहा है; लेकिन उसके बारे में मुझे कुछ ज्यादा मालूम नहीं।

एक आशा मैं करता हूँ—ऐसा भारतीय साहित्य भारत की सब भाषाओं को निमन्त्रित करेगा। हिन्दी और उर्दू तो बहनें नहीं हैं—एक ही शरीर पर दो चेहरे हैं। उनमें तो हमें घनिष्ट-से-घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित करना है। बँगला, मराठी और गुजराती हिन्दी की छोटी बहनें हैं। दक्षिण की भाषाएँ हमारे देश की सब से पुरानी भाषाएँ हैं। इन सब के अलावा भारत की और भी छोटी-बड़ी भाषाओं को उस संस्था मे लेना चाहिए। मैं तो यह भी सिफ़ारिश करूँगा कि अंगरेजी को भी जगह मिले। यद्यपि वह हमारी नहीं; लेकिन फिर भी हमारे देश के जीवन में उसका बडा हिस्सा है—वह एक तरह की सौतेली भाषा हो गई है।

ऐसे भारतीय साहित्य-संघ में अकसर ऐसे प्रश्न उठ सकते हैं, जिनमें आपस में संघर्ष हो सकता है—खास कर लिपि का सवाल। कभी-न-कभी इन सवालों का हमें फैसला करना होगा; लेकिन अभी यह नहीं हो सकता, और इसकी कोशिश में बहुत मनमुटाव होगा। मेरा विचार है कि हमारे लिए लिपि के सिलसिले में बड़ा कदम यह होगा कि हिन्दी, बँगला, मराठी और गुजराती की एक लिपि हो जाय। यह आपस में समझौते और इत्तफ़ाक़ से ही हो सकता है। इसमें दबाव की गुंजाइश जरा भी नहीं है।

मेरा यह पक्का खयाल है कि हिन्दी या हिन्दोस्तानी को हमारे देश की राष्ट्र-भाषा होना चाहिए और वह होगी, चाहे लिपि दो हों। लेकिन मैं यह भी समझता हूँ कि हमारे प्रान्तों की बडी भाषाएँ खूब बढ़ेंगी, और हमको उन्हें बढ़ाना चाहिए। उनके बढ़ने में और हिन्दी के राष्ट्र-भाषा होने में कोई विरोध नहीं है। जो लोग अपने जोश में आकर विरोध पैदा करते हैं, वे दोनों को हानि पहुँचाते हैं।

दूसरा सवाल यह है कि हमारे साहित्यकारों को दुनिया के और साहित्यों से सम्बन्ध पैदा करना चाहिए और अन्तर्राष्ट्रीय साहित्य-संघों में शरीक होना चाहिए। इसके बगैर हम दुनिया के अगुआ देशों में नहीं हो सकते। हमको यह मानना पड़ेगा कि इस नवयुग में नये विचार

यूरप और अमेरिका से आ रहे हैं। उनको समझे बगैर हम आजकल की दुनिया का सामना नहीं कर सकते। पहली बात जो यह नवयुग सिखाता है, वह यह कि संसार एक है, हम उसके अलग-अलग टुकड़े नहीं कर सकते, और जो अलग होना चाहते हैं, वे पीछे पड़ जाते हैं।

इस सिलसिले में हममें से काफी लोगों को विदेशी भाषाएँ भी सीखनी चाहिए। वे हमारे लिए दुनिया को देखने की खिड़कियाँ होंगी, जिनके जरिये धूप और ताजी हवा आयगी। अंगरेजी तो हममें से बहुत लोग जानते हैं, इससे हम फायदा उठावेंगे, क्योंकि इस भाषा का फैलाव बढ़ता जाता है। इसकी वजह अमरिका है, जो इस समय सब में दौलतमन्द और बलवान है। लेकिन केवल अंगरेजी ही काफी नहीं है, और सिर्फ अंगरेजी जानने की वजह से हम अकसर धोखा खा चुके हैं। हम सारी दुनिया को अंगरेजी ऐनकों से देखने लगे हैं, और यह नहीं महसूस करते कि वे बिलकुल एकतरफा हैं। अंगरेजी हुकूमत का राजनीतिक मुकाबला करते हुए भी हम विचारों में बहुत-कुछ उनके गुलाम हो गये हैं। हम उन्हीं की किताबें पढ़ते हैं, उन्हींके अखबार, उन्हींकी भेजी हुई खबरें। इसका जबरदस्त असर हमारे ऊपर होता है। अगर हम फ्रेंच या जर्मन या रूसी किताबें या अखबार पढ़ें, तब हमें मालूम होगा कि दुनिया में कोई और चीज है, और अंगरेजों का उसमें इतना बड़ा हिस्सा नहीं है, जितना हम समझते हैं। इसीलिए यह जरूरी होता जाता है कि हमारे देश में कुछ लड़के और लड़कियाँ अंगरेजी के अलावा विदेशी भाषाएँ सीखें—खास कर फ्रेंच, जर्मन, रूसी और स्पेनिश (जो दक्षिण-अमेरिका में फैली हुई है)। यह भी अच्छा हो, अगर कुछ लोग चीनी और जापानी भी सीखें। फारसी तो अभी तक काफी लोग जानते हैं।

यूरप में समझा जाता है कि पढ़े-लिखे आदमी को कम-से-कम दो या तीन भाषाएँ आनी चाहिए, और अकसर ऐसा होता भी है। हमारे लिए यह ज्यादा कठिन होगा, और बहुत लोग विदेशी भाषाएँ नहीं सीख

सकते, इसलिए यह उचित होगा कि विदेशी भाषाओं में जो प्रसिद्ध पुस्तकें हैं, उनका अनुवाद हिन्दी में हो। यह मुझे बहुत आवश्यक मालूम होता है, अगर हम दुनिया की विचार-धाराओं को समझा चाहते हैं। इस समय ऐसी अनूदित पुस्तकें बहुत कम हैं, और जो हैं भी, उनका तरजुमा अकसर अच्छा नहीं होता। हमारे अनुवादक लोग—खासकर जो समाचारपत्रों में काम करते हैं—बिलकुल शाब्दिक अनुवाद करते हैं, और शब्द के या फिकरे के पीछे क्या अन्दरूनी मानी हैं, उसपर कम विचार करते हैं। जो लोग शब्दों से प्रेम करते हैं, वे जानते हैं कि हर शब्द में जान है, रूह है, उसका एक पुराना इतिहास है, और इसलिए उसके मानी भी बताना आसान नहीं है। अनुवाद करना तो बहुत कठिन है, लेकिन हमारे यूनिवर्सिटियों से निकले हुए भाई बहुत बहादुरी से बगैर आगे-पीछे देखे, तेजी से अनुवाद करते हैं। डिक्शनरी या कोष के लिहाज से शब्दों का अर्थ ठीक किया जाता है; लेकिन जो चीज उछलती, कूदती, फड़कती, जिन्दा थी, वह मुर्दा लाश हो जाती है, और जिसके मानी थे, वह बेमानी हो जाती है। इन बेगुनाहों के कत्लआम से रंज होता है।

अलमोड़ा डिस्ट्रिक्ट जेल
२६—७—३५

हमारा साहित्य

दो वर्ष से अधिक हुए, जब मैं कुछ महीनों के लिए जेल के बाहर आया था, तब मैं भाई शिवप्रसाद गुप्त से बनारस मिलने गया था। इस सिलसिले में मुझे अवसर मिला कि मैं कुछ मित्रों से, जो हिन्दी-साहित्य से सम्बन्ध रखते हैं, मिलूँ। इस मौके को मैंने खुशी से अपनाया। साहित्य के बारे में हममें कुछ थोड़ी बातें हुईं। मैं डरते-डरते ही बोला था, क्योंकि मैं इस मामले में बहुत कम जानता था, और इसलिए कुछ कहने का साहस भी नहीं रखता था। बाद में मैंने आश्चर्य के साथ सुना कि हमारी आपस की बातचीत कुछ अखबारों में किसीने छपवा दी है। मैं नहीं जानता कि क्या छपा था, क्योंकि मैंने उसे देखा नहीं। इसलिए मैं कह नहीं सकता कि वह सही था या गलत। फिर यह सुनने में आया कि हिन्दी के समाचारपत्र मुझसे बहुत नाराज हैं, और बनारस की मेरी बातों पर बहुत मुबाहसा हो रहा है। मैं और कामों में लगा था, इसलिए इधर ध्यान न दे सका और फिर जल्द ही दुबारा जेल चला गया।

मैंने उस समय, दो बरस पहले, क्या कहा था, उसे दोहराने की आवश्यकता नहीं। उसमें कोई खास बात नहीं थी। न यह बात बहस-तलब ही है कि मेरा हिन्दी-साहित्य का ज्ञान कितना है। वह तो बहुत

कम है। मैंने कुछ थोड़ा पुराना साहित्य पढ़ा है, कुछ नया। कुछ कोशिश की यह समझने की कि हिन्दी-साहित्य में आजकल क्या-क्या विचार-धाराएँ चल रही हैं, क्या-क्या सवाल उसके सामने हैं, उसकी निगाह किधर है ; लेकिन यह थोड़ा-सा पढ़ना या सोचना मुझे इस बात का अधिकार नहीं देता कि मैं जानकारों के सामने अपनी अनजान आवाज उठाऊँ। ऐसी हालत में अगर मैं औरों की नुक्ताचीनी की कोशिश करूँ, तो वह सरासर मेरी नालायकी होगी।

फिर भी मैं बेहयाई से हिम्मत करता हूँ कि इस विषय पर कुछ शब्द लिखूँ—इस आशा से कि औरों की मदद से मैं कुछ सीख सकूँ।

कुछ दिन हुए 'विशाल भारत' के एक लेख में मैंने यह पढ़ा—'बहुत लोगों की दृष्टि से इसका (हिन्दी का) साहित्य काफी ऊँचा हो गया है। इसके लेखकों की तुलना शेक्सपियर से लेकर टाल्सटाय और बर्नार्ड शा तक समय-समय पर होती रही है।' यह पढ़कर मुझे खुशी हुई। मुझे मालूम था कि हिन्दी-साहित्य में एक नई जाग्रति हुई है, और वह आगे बढ़ रहा है, लेकिन मैं नहीं जानता था कि वह इतनी दूर तक पहुँच गया है। मेरी प्रबल इच्छा हुई कि मैं इन शेक्सपियर इत्यादि के तुल्य लेखकों को पढ़ूँ, और इस बारे में मैंने कुछ मित्रों से अनुरोध किया कि वे मुझे यह पुस्तकें भेजें। कुछ किताबें मेरे पास आईं भी, और मैंने उनको पढ़ा भी, लेकिन मेरी आशाएँ पूरी न हुईं। शायद ठीक पुस्तकें मेरे पास न आई हों, और इस बारे में और लोग मेरी सहायता कर सकें। अगर 'विशाल भारत' के सम्पादक महोदय और अन्य हिन्दी-साहित्य के पंडित एक सौ या पचास चुनी हुई किताबों की फेहरिस्त बना दें, तो बहुतों को उससे सहायता मिलेगी। यह पुस्तकें ऐसी हों, जो पिछले तीस या पैंतीस वर्षों में लिखी गई हों,—यानी इस बीसवीं शताब्दी की हों।

साहित्य क्या चीज है, इसपर हर भाषा में बहस रहती है, और बहुत तरह की रायें होती हैं। इस बहस में मैं पड़ना नहीं चाहता। लेकिन अधिकतर लोग कदाचित यह मान लेंगे कि उसमें दो प्रश्न उठते हैं—एक विषय का और दूसरा उसके प्रतिपादन का। साहित्य में दोनों ही की जरूरत है।

मेरी पहली कठिनाई यह है कि जिन विषयों में मुझे दिलचस्पी है, उनमें मुझे अभी तक हिन्दी में बहुत कम पुस्तकें मिली हैं। मैं आजकल की दुनिया को समझना चाहता हूँ—जो ऊपरी वाकयात होते हैं, और जिनका हाल हम कुछ समाचारपत्रों में पढ़ते हैं, मैं उनके पीछे देखना चाहता हूँ, ताकि मैं समझूँ कि वे क्यों हुए; क्या-क्या अन्दरूनी ताकतें दुनिया के लोगों को इधर-उधर धकेल रही हैं; क्या-क्या खयाल उनके दिमागों में भरे हुए हैं; क्या-क्या जजबात उनके दिलों में हैं; कौन-कौन-से बड़े-बड़े सवालात संसार-भर को और हमारे देश को परेशान कर रहे हैं? मेरा दिमाग उस परेशानी में खुद फँसा है, उन सवालों के जवाब ढूँढ़ता रहता है, उन कठिन गाँठों को खोलने की कोशिश करता है। इसलिए हर समय रोशनी की तलाश रहती है, जो अँधेरे में उजाला करे और ठीक रास्ता दिखाये, जिसपर हम इतमीनान से आगे बढ़ें।

दुनिया को समझने के लिए सिर्फ राजनीति को समझना काफी नहीं है। राजनीति तो अधिकतर एक कठपुतली का तमाशा है, जिसके पीछे कुछ ऐसी छिपी और अकसर खुली, शक्तियाँ हैं, जो उसको चलाती हैं। अर्थशास्त्र के सब पहलुओं को जानने की आवश्यकता हो जाती है। और आजकल जो सोने, चाँदी और नाना प्रकार के सिक्कों ने अजीब खेल कर रखा है, बड़ी-बड़ी मेशीनों और कारखानों ने दुनिया में जो जबरदस्त क्रान्ति पैदा की है, राष्ट्रवाद, लोकतंत्रवाद, पूँजीवाद, साम्य-वाद इत्यादि—यह सब क्या हैं और दुनिया पर क्या असर कर रहे हैं? अन्तर्राष्ट्रीयता का भाव कितना बढ़ रहा है? यह सब मामूली सवाल हैं, जिनपर बहुतेरे मनुष्य कुछ-न-कुछ कहने को या लिखने को शायद

तैयार हो जायँ; लेकिन मोटी बातें दोहराने से ज्यादा फायदा नहीं होता। अगर हम असल में इन सब को समझना चाहते हैं, तो हमें गहराई में जाना पड़ेगा, और ऐसी पुस्तकें हमें चाहिए, जो उस गहराई तक ले जा सकें।

फिर यह भी आवश्यक हो जाता है कि हम और देशों का आधुनिक हाल पढ़ें और जानें—यूरप के देशों का, रूस का, अमेरिका का, चीन का, जापान का, मिस्र इत्यादि का। किसी भी देश का आज-कल का हाल समझना तबतक करीब-करीब असम्भव है, जबतक हम उसका पुराना हाल न जानें। जो प्रश्न इस समय हमारे सामने हैं, उन सबों की जड़ पुराने जमाने में है। इसलिए इतिहास जानना हमारे लिए जरूरी हो जाता है, और इतिहास भी केवल एक या दो देशों का नहीं बल्कि सारी दुनिया का।

हमें यह भी याद रखना है कि आजकल की दुनिया और हमारा सारा जीवन विज्ञान Science से बँधा हुआ है। इसलिए विज्ञान के सिद्धान्त और उसके नये विचार तो हमें समझने ही हैं। मुझे इन बातों में बहुत दिलचस्पी रही है—खासकर भौतिक विज्ञान (Physics) और उसके नये ख्यालात में, जैसे रेलेटिविटी और क्वान्टम थ्योरी (Relativity and Quantum theory), जीव-विज्ञान (Biology), समाज-विज्ञान (Sociology), मनोविज्ञान (Psychology) और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण (Psycho-analysis)।

इन सब विषयों पर आजकल यूरप-अमेरिका में हजारों किताबें हर साल निकल रही हैं। उनमें बहुतेरी मामूली किस्म की हैं, कुछ फिजूल हैं; लेकिन एक काफी तादाद ऊँचे दर्जे की भी है। विदेशी अखबारों और पत्रिकाओं में भी इन मजमूनों पर बहुत अच्छे लेख निकला करते हैं। मैं आशा करता हूँ कि हिन्दी में इन विषयों पर जो नई पुस्तकें हैं, उनकी फेहरिस्त तैयार की जायगी। यह जाहिर है कि स्कूल और कालेज के विद्यार्थियों के लिए जो किताबें इम्तहान

पास करने को लिखी जाती हैं, उनकी इस फेहरिस्त में आवश्यकता नहीं।

मैंने कविता, उपन्यास और नाटक का या ऐसी ही और पुस्तकों का, जिनको शायद शुद्ध साहित्य कहा जाय, जिक्र ऊपर नहीं किया है। ऐसी पुस्तकों के नाम की फेहरिस्त होने जरूरी हैं। मैंने कुछ ऐसी किताबें पढ़ी भी हैं, और मुझे पसन्द भी आई हैं। कविताएँ अकसर बहुत अच्छी होती हैं, बहुत मीठी होती हैं; लेकिन कभी-कभी मिठास इस कदर होती है कि उसमें शीरे की चिपक-सी आ जाती है। विषय अधिकतर चन्द चुने हुए ही होते हैं और उनके बाहर जाना कम होता है। मेरे दुर्भाग्य से मुझे कोई ऐसा उपन्यास अभी तक नहीं मिला है, जिसका मुकाबला मैं मशहूर विदेशी उपन्यासों से करूँ। नाटक मैंने अभी तक कोई माकूल नहीं पाया। मेरे अज्ञान से और मेरे अपरिचित होने से तो कोई नतीजा नहीं निकलता, सिवा इसके कि मेरी तालीम में कसर है। इस कसर को मैं औरों की सहायता से कुछ पूरा किया चाहता हूँ।

एक और बात में मैं मदद चाहता हूँ—वह यह कि हिन्दी-संसार में आजकल कौन-कौन विचार-धाराएँ हैं? हिन्दी पत्रिकाओं और पुस्तकों से यह अवश्य मालूम होता है कि साहित्य में एक जाग्रति है और एक ढूँढ़ है; लेकिन फिर भी उनसे इस प्रश्न का साफ उत्तर नहीं मिला। मैं समझता था कि साहित्य-सम्मेलन में इन बातों पर विचार होगा। मैं नहीं जानता कि उसमें कहाँ तक विचार हुआ। १९३५ के अधिवेशन में, समाचारपत्रों से तो यही मालूम होता था, सब से बड़ा प्रश्न एक लाख रुपये की थैली का था। इसलिए मैं अभी तक इस जरूरी मसले को, जो कि किसी भी साहित्य की जान है, नहीं समझ सका, और यह मेरे लिए शर्म की बात है, अन्य देशों के और अन्य भाषाओं के बारे में मैं कुछ-न-कुछ कह सकता हूँ कि वहाँ साहित्य के प्रश्नों पर क्या-गौर और मुबाहसा आजकल

हो रहा है—अमेरिका में, इंगलैंड में, फ्रांस में, रूस में, जर्मनी में, चीन में, टर्की में। लेकिन अपने देश और अपनी मातृभाषा के बारे में मैं यह नहीं कह सकता।

मै अपना मतलब साफ कर दूँ यह दिखाकर कि और देशों में क्या-क्या प्रश्न साहित्य-संसार को परेशान कर रहे हैं। सब देशों में साहित्यकारों की बहुत-सी सभाएँ और सम्मेलन हैं—बहुतेरे राष्ट्रीय, कुछ अन्तर्राष्ट्रीय। कुछ अरसा हुआ, जून सन् १९३५ मे पेरिस में एक बड़ा अन्तर्राष्ट्रीय साहित्य-सम्मेलन हुआ था, जिसमें सारे यूरप और अमेरिका से लोग आये थे। उसका नाम था—International Congress of writers for the defence of Culture, (संस्कृति की रक्षा के लिए लेखकों की अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस)। इस कांग्रेस की विषय-सूची से मालूम होता है कि यूरप और अमेरिका के साहित्य-संसार में किन प्रश्नों पर गौर हो रहा है। इस विषय-सूची की एक नकल मैं नीचे देता हूँ। मैंने इसे अंगरेजी में भी दे दिया है, इसलिए कि मैं उसका ठीक अनुवाद नहीं कर सकता।

सूची

Outline of subjects prepared for discussion at the International Congress of Writers for the Defence of Culture held in Paris in June 1935:

I. The Cultural Heritage

(सांस्कृतिक उत्तराधिकार)

Tradition and Invention. (परम्परा और आविष्कार)
he recovery and protection of cultural values.
(सांस्कृतिक निधि की रक्षा और पुनरुद्धार)
The future of culture. (संस्कृति का भविष्य)

II. Humanism

(मानवता)

Humanism and Nationality. (मानवता और राष्ट्रीयता)

Humanism and the individual. (मानवता और व्यक्ति)

Proletarian humanism. (श्रमजीवी मानवता)

Man and the machine. (मनुष्य और मेशीन)

Man and leisure. (मनुष्य और अवकाश)

The writer and the workers. (लेखक और मजदूर)

III. National and Culture.

(राष्ट्र और संस्कृति)

The relations among nationae cultures. (राष्ट्रीय संस्कृतियों के पारस्परिक सम्बन्ध)

National cultures and humanism. (राष्ट्रीय संस्कृतियाँ और मानवता)

National cuetures and social classes. (राष्ट्रीय संस्कृतियाँ और सामाजिक वर्ग)

Class and culture. (वर्ग और संस्कृति)

The literary expression of national minorities. (राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों का साहित्यिक आत्म-प्रकाश)

Nationalism as opposed to national realities. (राष्ट्रीयता वास्तविकता के विरुद्ध राष्ट्रीयता)

War and culture. (युद्ध और संस्कृति)

The literature of colonial people. (औपनिवेशिक जातियोंका साहित्य)

The broad public and the 'initiated'.
(साधारण जनता और 'दीक्षित' लोग)

Isolated figures and precursors. (विच्छिन्न मूर्तियाँ और अग्रदूत)

Translations. (अनुवाद)

IV. The Individual
(व्यक्ति)

The relation between the writer and society—Opposition or agreement? (समाजिक विरोध या समर्थन में लेखक और समाज का संबंध)

The individual as an expression of his class. (अपने वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में व्यक्ति)

V. The Dignity of Thought
(विचार की मर्यादा)

The nature of the liberty of the artists. (कलाकारों की स्वतंत्रता का ढंग)

Liberty of expression. (भाव-प्रकाश की स्वतंत्रता)

Direct and indirect forms of censorship (प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सेंसरशिप)

Illegal literature. (गैरकानूनी साहित्य)

Writers in exile. (निर्वासित लेखक)

VI. The Writer's Role in Society
(समाज में लेखक का भाग)

His relations with the public. (जनता के साथ उसका संबंध)

The lessons of Soviet literature. (सोवियट साहित्य की शिक्षायें)

Literature and the proletariat. (साहित्य और श्रमजीवी)

Writers and youth. (लेखक और नवयुवक)

The critical value of literature. (साहित्य का आलोचनात्मक मूल्य)

The positive value of literature. (साहित्य का निरपेक्ष मूल्य)

Literature as a mirror and criticism of society. (समाज के दर्पण और आलोचना के रूप में साहित्य)

VII Literary Creation

(साहित्यिक रचना)

The influence of social change on artistic forms. (सामाजिक परिवर्तनों का कला के ढंगों पर प्रभाव)

Value of continuity and values of discontinuity. (साहित्य में निरवच्छिन्नता और विच्छिन्नता का मूल्य)

The different forms of literary activity (साहित्यक कार्य के विविध रूप)

The social role of literature. (साहित्य का समाजिक कार्य)

Imitation or cration of types. (विशेष प्रकार के चरित्रों की सृष्टि और उनकी नकल)

The creation of heroes (नायकों की सृष्टि)

The new technical means of expression. (साहित्य के प्रतिपादन में नवीन टेकनिकल साधन)

VIII. writers & the defense of Culture

(लेखक और संस्कृति की रक्षा)

How their efforts can be co-ordinated. (लेखकों के प्रयत्नों में कैसे साम्य पैदा किया जा सकता है)

इस विषय-सूची के मजमूनों पर हिन्दी के साहित्याचार्यों की क्या राय है, यह जानकर मुझे और बहुत-से लोगों का फायदा होगा। मैं आशा करता हूँ कि वे अपनी राय देंगे।

अलमोड़ा डिस्ट्रिक्ट जेल

२८-७-३५

सामाजिक और राष्ट्रीय

भारत किस ओर ?

जेल से नवागन्तुक, बहुत दिनों तक जीवन और राजनीति के झंझटों से विलग रहने के बाद, बाहर आता है; परन्तु उसे कई अंशों में सुविधाएँ भी प्राप्त रहती हैं। उसकी दृष्टि ज्यादा निष्पक्ष हो सकती है; तात्कालिक झगड़ों में वह उतना लिप्त नहीं होता; वह सिद्धान्तों पर ज्यादा जोर देगा, जबकि दूसरे छोटी-छोटी बातों की ही बहस में फँसे रहते हैं। वह वास्तव में निरंतर बदलती हुई परिस्थितियों की तह में विद्यमान सार-तत्व को कहीं अच्छी तरह से देख सकता है।

बहुत-से लोग पूछते हैं—हम क्या करें ? जो लोग इसका जवाब दे सकते हैं या इसका उत्तर देने में सहायता पहुँचा सकते हैं, उनमें से बहुतों के मुँह या तो जेलों में या जेल के बाहर आज दिन बन्द हैं। लेकिन मुफ्त सलाह अक्सर धमकियों के साथ, एक अटूट धारा में हमें उन लोगों से मिल रही है, जो हमारे ऊपर हुकूमत कर रहे हैं और जो इस देश में उनके पिछलगुआ हैं। हमें वे बारी-बारी से चेतावनी देते, हमारी लल्लोचप्पो करते और नेक सलाह भी देते हैं। हमपर असर डालने के लिए वे लोग उत्सुक तो हैं, लेकिन अभी तक वे यह नहीं समझ पाए हैं कि इसके लिए कौन-सा सही तरीका होगा। फिलहाल

उनको और उनकी सलाह का तो जाने दीजिए, क्योंकि ऐसे उपहार, चाहे संत ही मिले प्रायः सदिग्ध हुआ करते हैं।

विचार के अभाव मे तो कोई उचित कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता; उसके पहले विचार की जरूरत है। जो विचार कार्य-रूप मे नहीं परिणत होता, उसकी 'गर्भपात' से ठीक ही तुलना की गई है। उस काम की, जो विचार का आश्रित नहीं है, अन्धेरखाते और अराजकता मे गिनती है। इसलिए, अपने दिमागों की उन मकड़ी के जालों से, जो उनमें लग गए हों, साफ कर लेना हमारे लिए बहुत जरूरी है। आवश्यकता इस बात की भी है कि उन मसलों को, जो हमारे सिर पर सवार हैं, उन गुत्थियों को, जिन्हें हमें सुलझाना है, और रोजमर्रा की उलझनों को हम थोड़ी देर के लिये भूल जायें और फिर से मौलिक मामलों और सिद्धान्तों पर विचार करें। हम असल में चाहते क्या हैं, और उसे हम क्यों चाहते हैं?

मैं संकोच के साथ लिख रहा हूँ, क्योंकि बहुत दिनों से मैं राष्ट्रीय समाचारपत्रों से विलग था, लेकिन मुझे ऐसा मालूम होता है कि मौलिक घटनाओं और सिद्धान्तों पर लोगों का ध्यान कम रहा है। मुमकिन है कि किसी हद तक सरकारी रोक-थाम या उसी का डर इसके लिए जिम्मेदार हो। लेकिन मैं सोचता हूं कि यह भी पूरी तौर से माकूल वजह नहीं हो सकती। मालूम होता है, सड़ियल-से-सड़ियल मसलों पर ही सारा ध्यान लगा रहता है, महत्व-पूर्ण विषयों की कुछ भी परवा नहीं की जाती। गांधीजी वाइसराय से मिलें या न मिलें? स्टैनले बाल्डविन, विंस्टन चर्चिल को हरा देंगे या नहीं? सर सैम्युअल होर ने क्या कहा या नहीं कहा? हमें वह अजबी चीज—जिसे 'केन्द्रिय दायित्व' कहते हैं— मिलेगी या नहीं? मुश्किल से हमारे लक्ष्य की ओर इशारा, शायद ही कभी असली समस्याओं का खयाल।

इतिहास के सुदीर्घ विस्तार-क्रम में दुनिया मे पहले कभी इतनी उथल-पुथल नहीं हुई, जितनी आज दिन मच रही है। संसार में चार

ओर रद्दोबदल और इन्क़लाब का क्रम-बद्ध सिलसिला जारी है; और हर जगह चिन्तित राजनीतिज्ञ सब सूझ-बूझ गँवाकर अँधेरे में टटोलते फिरते हैं। यह प्रत्यक्ष है कि हम इस बड़ी विश्वव्यापी समस्या के एक अंग हैं, और दुनिया में होनेवाली घटनाओं का हमारे ऊपर असर पड़ेगा। इस पर भी, भारत में इन मसलों पर जितना ध्यान दिया जाता है उसक देखते हुए कोई आदमी यह न समझेगा कि ग़ैर मुल्कों में होनेवाली घटनाओं का हिन्दुस्तान से कुछ सम्बन्ध है। बड़ी-बड़ी घटनाएँ समाचार-पत्रों के समाचार-स्तम्भों में तो छपती हैं; पर उनके महत्व, उनके रहस्य की उस ओर किसी का न तो ध्यान ही जाता है, न उन शक्तियों को समझने की चेष्टा ही की जाती है, जो हमारी आँखों के सामने दुनिय को हिला और बना-बिगाड़ रही हैं, और न सामाजिक, साम्पत्तिक और राजनीतिक असलियत ही को हृदयंगम करने की कोशिश की जाती है। इतिहास, समकालीन या भूतकालिक, जादू का एक बे-सिर-पैर का तमाशा हो रहा है, जिससे भविष्य के पथ-प्रदर्शन में हमें कुछ भी सहायता नहीं मिलती, भारत या इंगलैंड में खूब सजे-सजाए रंग-मंच पर छाया-चित्र, बड़े राजनीतिज्ञ होने का स्वाँग करते हुए, आते-जाते हैं, राउंड टेबुल के मेम्बर लोग अपने विधाताओं की निर्जीव छाया की तरह इधर-उधर फुदकते फिरते हैं। ये लोग ऐसे तुच्छ-से-तुच्छ मसलों पर बहसें किया करते हैं, जिनका न कभी अन्त होने आता है, जिनमें न किसी को कोई दिलचस्पी है, और जिनसे महज इने-गिने ही लोगों के नफे-नुकसान की संभावना है। उनका मुख्य उद्देश्य है विभिन्न वर्गों या समूहों के स्वार्थों की रक्षा करना; उनका प्रधान मनोरंजन है दावतों के अलावा, अपनी तारीफ़ के पुल बाँधना। दूसरे दल के लोग, पिछले पचास साल के अन्दर होनेवाली घटनाओं से एकदम अनभिज्ञ विक्टोरियन ज़माने की भाषा को दोहराते फिरते हैं। उन्हें ताज्जुब भी होता है, और बुरा भी लगता है कि उनकी बातों को कोई सुनता नहीं। उनके खास तौर से कठोर खोपड़ों पर लड़ाई, विप्लव और संसार की

उलट-पुलट-रूपी दवाई भी कुछ भी निशान न कर सका। इनके अलावा भी और लोग हैं जो साम्प्रदायिकता या राष्ट्रीयता की ओट में अपने स्वार्थ की सिद्धि करना चाहते हैं। और, फिर, ऐसे भी बहुत-से लोग मौजूद हैं, जिनकी राष्ट्रीयता जोशीली तो है, पर जिनका ध्येय स्पष्ट नहीं है; जो मौजूदा हालात से बेतरह असंतुष्ट और राष्ट्रीय स्वाधीनता तो चाहते हैं, परन्तु यह नहीं जानते कि उस स्वतंत्रता का स्वरूप क्या होगा। और हमारे यहाँ भी वैसे ही, जैसे दूसरे देशों में, बढ़ती हुई राष्ट्रीयता की ये साधारण सहचरी भी विद्यमान हैं—आदर्शवाद, रहस्य-वाद, आत्मोच्छ्वास की भावना, अपने देश का दूसरों के लिए उपयोगी होने के सम्बन्ध में विश्वास, और धार्मिक जाग्रति के समान भावनाओं का उदय। वास्तव में, ये सब बातें मध्यम श्रेणी-वालों में ही दिखाई देती हैं।

हमारी राजनीति या तो जादू की राजनीति हो सकती है, या विज्ञान की। पहली के लिए न दलील की जरूरत है, न प्रमाण की। दूसरी तरह की राजनीति विचार और तर्क की विशदता पर निर्भर है। इसमें चित्त को डावाँ-डोल करने और बहकानेवाली, अधकचरी, आदर्शवादी या धार्मिक या भावुकता से भरी विचार-शृङ्खलाओं के लिए कोई स्थान नहीं है। व्यक्तिगत रूप से धर्म या जादू के तरीकों में न तो मुझे विश्वास है, और न वे मेरे किसी मतलब के ही हैं। मैं तो इस मसले का विचार वैज्ञानिक ढंग पर ही कर सकता हूँ।

तो फिर हमारा अभीष्ट क्या है ? स्वाधीनता ? स्वराज्य ? स्वतंत्रता ? औपनिवेशिक स्वराज्य ? ये सब कोरे शब्द हैं, जिनका अर्थ अधिक या कम या बिलकुल कुछ नहीं हो सकता। मिस्र 'स्वतंत्र' है, लेकिन, जैसा सभी जानते हैं, उसकी दशा किसी देशी रियासत की सी है। वह असंतुष्ट जा की गर्दन पर लदी हुई अनियंत्रित सत्ता है, जिसे ब्रिटिश ने सहारा दे रक्खा है। साम्पत्तिक दृष्टि से वह कुछ यूरोपियनों और विशेष रूप से ब्रिटिश साम्राज्यवादी राष्ट्रों का उपनिवेश है। विश्वव्यापी युद्ध के

ज़माने से मिश्र की राष्ट्रीयता और वहाँ के शासक-वर्ग में लगातार झगड़ा होता रहा, और आज दिन भी वह जारी है। इसलिए, नाम में 'स्वतंत्रता' के होते हुए भी, मिश्र राष्ट्रीय स्वाधीनता से कोसों दूर है। साम्पत्तिक दृष्टि से मिस्र यूरप की कुछ साम्राज्यवादी शक्तियों और खासकर ब्रिटेन का एक उपनिवेश है। महायुद्ध के समय वहाँ राष्ट्रीयता तथा शासक-वर्ग में संग्राम होता आया है, और वह अब भी जारी है। इस प्रकार मिस्र देश की पूर्ण स्वाधीनता तो दूर रही, वहाँ राष्ट्रीय स्वतंत्रता भी नहीं है।

फिर, यह भी सवाल उठता है कि हम किसकी स्वतंत्रता के लिए कोशिश कर रहे हैं ? राष्ट्रीयता में भी तो बहुत-से दुर्गुण हैं, तथा परस्पर विरोधी बातें शामिल हैं। भारत मे माण्डलिक राज्यवाले देशी नरेश, बड़े-बड़े जमींदार, छोटे जमींदार, पेशेवर जातियाँ, खेतिहर, व्यवसायी, महाजन, मध्य श्रेणी के छोटी हैसियत-वाले लोग तथा मजदूर आदि कई वर्ग हैं। भारत में देशी पूँजी, विदेशी पूँजी और सरकारी नौकरियों में लगे हुए भारतीय तथा विदेशी लोगों में भी समान हित हैं। राष्ट्रीयता तो ऊपर के सवाल का यही जवाब देती है कि विदेशी हितों के मुकाबिले देशी हितों का ज्यादा ध्यान रक्खा जाय। इसके आगे वह नहीं बढ़ेगी। वह मौजूदा वर्ग-भेदों तथा सामाजिक संगठन में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप करना नहीं चाहती। वह यह समझती है कि देश के स्वतंत्र हो जाने पर विभिन्न वर्गों के हित आपस में ठीक-ठाक हो जायँगे। राष्ट्रीयता का आन्दोलन मध्य श्रेणी के व्यक्तियों का ही आन्दोलन है, इसलिए यह खास तौर पर उन्हीं के हितों के लाभ की चेष्टा करती है। यह तो मानी हुई बात है कि देश के विभिन्न वर्गों के हित एक दूसरे के विरोधी हैं, और ऐसी दशा में, जो कानून अथवा नीति एक के अनुकूल है, वह दूसरे के प्रतिकूल पड़ेगी। जो चीज किसी देशी नरेश के हित में होगी, वह उसकी प्रजा के लिए एकदम हानिकर हो सकती है। जो बात जमींदार के लिए फायदेमंद है, उससे उसके किसानों का बहुत नुकसान

पहुँच सकता है। विदेशी पूँजी के लिए जिस संरक्षक की आवश्यकता है, उससे देश के पनपते हुए उद्योग-धन्धे एकदम नष्ट हो सकते हैं।

यह समझना तो एकदम हास्यास्पद होगा कि राष्ट्र के सभी हितों का एक दूसरे के साथ इस तरह से मेल बैठाया जा सकता है कि किसी को नुकसान न पहुँचे। पग-पग पर एक के हित के लिए दूसरे के हित की बलि चढ़ानी होगी। कोई भी मुद्रा-नीति महाजनों और कर्जदारों में से केवल एक के ही लिए लाभकर हो सकती है, दोनों के लिए नहीं। चलन-सिक्कों की तादाद में वृद्धि करने की नीति से ऋण की तादाद या तो घट जायगी या ऋण एकदम ही चुकता हो जायगा; किन्तु इस नीति से महाजनों तथा बँधी तनख्वाह-वालों का बड़ा नुकसान होगा और कर्जदारों तथा उद्योग-धन्धे-वालों को लाभ पहुँचेगा। १६ वीं शताब्दी के आरंभ में इंग्लैण्ड को अपने उद्योग-धन्धों की उन्नति के लिए अपनी खेती का बलिदान करना पड़ा था। कुछ साल हुए, सन् १६२१ में, पौंड की कीमत को सम दर पर रखने के लिए उसे किसी हद तक अपने बैंकों और साम्पत्तिक हितों के मुकाबिले में अपने व्यवसाय को धक्का पहुँचाना पड़ा, जिसकी वजह से उसे व्यापारिक कठिनाइयों और एक बहुत बड़ी हड़ताल का सामना करना पड़ा।

इसी प्रकार के बहुत-से उदाहरण दिये जा सकते हैं। उनका संबंध धनिकों के विभिन्न दलों की प्रतिस्पर्धी स्वार्थों से है। धनी-वर्ग और समाज के अन्य व्यक्तियों के बीच में इससे अधिक महत्व-पूर्ण संघर्ष उठ खड़ा होता है। यह लड़ाई धनिकों और धन-हीनों के बीच होती है। ये सब बातें बहुत ही स्पष्ट हैं। किन्तु जिनके हाथ में राजनीतिक तथा साम्पत्तिक शक्ति होती है, वे वास्तविकता पर पर्दा डालकर भ्रम उत्पन्न करने की कोशिश करते हैं। ब्रिटिश सरकार यह बात ईश्वर की सौगंध खाकर पुकार-पुकार कर कहती आई है कि हम भारत के जन-साधारण के संरक्षक हैं, इंगलैण्ड तथा भारत के स्वार्थ एक ही प्रकार के हैं, और दोनों

देश हाथ-में-हाथ मिलाकर एक साथ चल सकते हैं। परन्तु इस चक्रमे में बहुत कम लोग आते हैं; क्योंकि राष्ट्रीयता हमें यह अनुभव करा देती है कि दोनों राष्ट्रों के स्वार्थ परस्पर विरोधी हैं। लेकिन राष्ट्रीयता हमें इस बात का अनुभव नहीं कराती कि राष्ट्र के अन्दर भी विभिन्न साम्पत्तिक स्वार्थों के बीच पारस्परिक संघर्ष चल रहा है। इस संघर्ष को छिपाने की कोशिश की जाती, और यह दलील दी जाती है कि सब से पहले राष्ट्रीय समस्या का सुलझाना अधिक आवश्यक है। विभिन्न श्रेणियों और दलों में एकता स्थापित कर राष्ट्रीय शत्रु का एक साथ मिलकर मुकाबला करने के लिए अपीलें निकाली जाती हैं; और जो लोग जमींदारों और किसानों, पूँजीपतियों और मजदूरों के स्वाभाविक संघर्ष की चर्चा करते हैं उनकी आलोचना की जाती है।

हम इस बात को मान लें कि औसत दर्जे का आदमी संघर्ष और मुतवातिर तनातनी को पसन्द नहीं करता; वह शान्ति अधिक पसन्द करता है, और इसके लिए बहुत-कुछ त्याग करने को भी तैयार है। किंतु अव्यवस्था तथा संघर्ष की ओर—जिनका केवल अस्तित्व ही नहीं है, बल्कि जो समाज को दिन-प्रतिदिन जर्जरित कर रहे हैं—शुतुर्मुर्ग की तरह, ध्यान न देने की नीति से उस संघर्ष का नाश नहीं हो सकता और न इससे असलियत स्वाव में ही बदल सकती है। एक राजनीतिज्ञ तथा कार्यशील व्यक्ति के लिए तो ऐसी नीति का परिणाम विनाश ही होगा। इसलिए यह बहुत जरूरी है कि हम इस बात को सदा ध्यान में रखें और स्वाधीनता-सम्बन्धी अपने विचारों को इसी के अनुकूल बनावें। आज या कुछ दिनों बाद इस प्रश्न का उत्तर देने से हम बच नहीं सकते कि हम भारत की किस श्रेणी या किस प्रकार के लोगों के लिए स्वाधीनता चाहते हैं? हम अपनी सूची में सब से पहले जन-साधारण—किसानों तथा मजदूरों—को रखते हैं, या किसी अन्य श्रेणी को? हमें जितनी अधिक श्रेणियों और दलों को स्वाधीनता से यथा-सम्भव लाभ हो सके, होने देना चाहिए; पर मुख्यतः हम किसके पक्ष

में हैं और यदि संघर्ष खड़ा हो जाय, तो हम किस की ओर होंगे, इस प्रश्न पर मौन रहना, वास्तव में, एक प्रकार से उत्तर देना है, क्योंकि इसका अर्थ यही है कि हम वर्तमान प्रणाली के समर्थक हैं।

शासन-तन्त्र का आकार-प्रकार वस्तुतः ध्येय-प्राप्ति का एक साधन-मात्र है, स्वाधीनता भी तो केवल एक साधन-मात्र ही है ; क्योंकि लक्ष्य तो है मानव जाति का विकास तथा हित; दरिद्रता, रोगों तथा दुःख का नाश, और प्रत्येक व्यक्ति के लिए शारीरिक तथा मानसिक ढंग से 'अच्छा जीवन' बिताने का सुअवसर देना। 'अच्छा जीवन' क्या है, इस प्रश्न पर यहाँ विचार नहीं किया जा सकता; किन्तु इस बात पर तो अधिकांश लोग सहमत हैं कि इसके लिए स्वाधीनता अनिवार्य है—राष्ट्र के लिए राष्ट्रीय स्वाधीनता तथा व्यक्ति के लिए व्यक्तिगत स्वाधीनता। क्योंकि प्रत्येक प्रकार की पराधीनता और रोक-टोक, विकास तथा उन्नति में बाधा पहुँचाती है; और, साम्पत्तिक अनाचार के अलावा, समस्त राष्ट्र तथा व्यक्तियों में विकृति तथा वक्रता भी पैदा करती हैं। इसलिए स्वाधीनता आवश्यक है। इसके साथ-ही-साथ सहयोग करने की इच्छा तथा क्षमता की भी आवश्यकता है। आधुनिक जीवन इतना जटिल हो गया है, और पारस्परिक परावलम्बन इस क़दर बढ़ गया है कि सहयोग के बिना एक घड़ी भी काम नहीं चल सकता।

इतिहास के लम्बे क्रम से हमें इस बात का पता चलता है कि शासन-तन्त्र तथा सम्पत्ति के पैदा करने की प्रणाली एवं संगठन के तरीकों में तरह-तरह के परिवर्तन होते आये हैं। शासन-तन्त्र साम्पत्तिक व्यवस्था के अनुकूल होता है, और ये दोनों एक दूसरे को प्रभावित किया करते हैं। जब साम्पत्तिक परिवर्तन की प्रगति बहुत अधिक बढ़ जाती है, पर शासन-तन्त्र जैसे-का-तैसा बना रहता है, तब दोनों के बीच बहुत बड़ा अन्तर पड़ जाता है। यह अन्तर आकस्मिक क्रान्ति से दूर होता है। इस बात को अब दुनिया के सभी लोग प्रायः मानने लगे हैं कि इतिहास के निर्माण में साम्पत्तिक घटनाएँ अत्याधिक-महत्वपूर्ण भाग लेती हैं।

यह बात अक्सर कही जाती है कि पूर्व और पश्चिम में आकाश-पाताल का अन्तर है। कहा जाता है कि पश्चिम जड़वादी तथा पूर्व अध्यात्मिक एवं धार्मिक है। प्रायः यह नहीं बताया जाता कि 'पूर्व' का ठीक-ठीक अर्थ क्या है; क्योंकि पूर्व में अरबी रेगिस्तानों में रहनेवाले बद्दू, भारत के हिन्दू, साइबीरिया के वन-पर्वतों में रहनेवाले खानाबदोश, मंगोलिया की चल जातियाँ, चीन के कन्फूसियस के अधार्मिक अनुयायी और जापान की सामुरायी जाति, सभी शामिल हैं। एशिया और युरप के विभिन्न देशों की संस्कृति तथा राष्ट्रीयता में बहुत बड़े-बड़े अन्तर हैं; परन्तु वास्तव में पूर्व और पश्चिम नाम की कोई वस्तु नहीं है। यह भेद तो सिर्फ उन्हींके दिमागों की उपज है जो इस भेद-भाव को अपने साम्राज्य और प्रभुता को कायम करने का महज बहाना बनाना चाहते हैं; या उन लोगों में यह भावना पाई जाती है, जो भूतकाल की अंडबंड अध्यात्मवाद से पैदा इस तरह की कथा-कहानियों और गप्पों में विश्वास करते हैं। इस प्रकार के वर्गीकरण तो वे व्यक्ति ही किया करते हैं, जो साम्राज्यवादी शासन के समर्थक हैं या जो लोग पुराने जमाने की भ्रमपूर्ण अध्यात्मिकता के कारण धोखे में पड़ गए हैं। पूर्व और पश्चिम में अन्तर अवश्य है; पर इस अन्तर का कारण साम्पत्तिक विकास-क्रम में विभिन्नता है।

हम देखते हैं कि उत्तर-पश्चिमी यूरप में स्वेच्छाचारिता तथा मनसबदारी के स्थान पर पूँजीवाद की स्थापना हुई, जिसमें प्रतियोगिता तथा बड़ी मात्रा की उत्पत्ति को प्रमुख स्थान मिला। पुराने जमाने के छोटे-छोटे खेत गायब हो गए, किसानों पर मनसबदारों का प्रभाव न रहा, और अन्त में इन खेतिहरों से भी जमीन छीन ली गई। लाखों व्यक्ति जिनके पास जमीन रही, बेकार हो गए। इस प्रकार एक धन-सम्पत्ति-हीन श्रेणी का जन्म हुआ। मनसबदारी के जमाने में वस्तुओं के मूल्यों पर जो नियंत्रण रक्खा जाता था, वह भी उठा लिया गया, और व्यापारियों के खुले तौर पर रोजगार करने के लिए बाजार मिल गए। इस

प्रकार, अन्त में अन्तर्राष्ट्रीय बाजार की सृष्टि हुई, जो पूँजीवाद के युग का एक विशेष लक्षण है।

पूँजीवाद का आधार धनहीनों का वह दल है, जिसके पास खेती करने को जमीन नहीं रह जाती। इस श्रेणी के लोग कारखानों और उन बाजारों में, जहाँ मशीनों-द्वारा बनाए गए माल की बिक्री होती है, मजदूरी करते हैं। पूँजीवाद धीरे-धीरे दुनिया-भर में फैल जाता है। उन देशों में, जो वस्तुओं के उत्पादन में लगे हैं, पूँजीवाद का रूप क्रियाशील है; उपनिवेशों तथा उन देशों में जो केवल पश्चिम से कारखानों के बने हुए माल को खरीदते हैं, पूँजीवाद निष्क्रिय होता है। उत्तर-पश्चिमी यूरप और बाद में उत्तरी अमेरिका, ये दोनों एशिया, अफ्रिका, पूर्वीय यूरप और दक्षिणी अमेरिका से कच्चा माल लेकर और उनके हाथ अपने बने हुए माल को बेचकर मालामाल होते जाते हैं। पूँजीवाद से संसार के धन में तो बहुत अधिक वृद्धि हो जाती है, पर यह धन कुछ विशेष राष्ट्रों के हाथ में ही केन्द्रित हो जाता है।

पूँजीवाद के इस विकास में, भारत के ऊपर अधिकार ने इंगलैण्ड के महत्त्व को बहुत ही बढ़ा दिया। आरंभ में भारत के सोने से इंगलैंड को अपने उद्योग-धन्धों का विस्तार करने में बड़ी सहायता मिली। इसके बाद इधर तो भारत कच्ची वस्तुओं के उत्पादन का बहुत बड़ा केन्द्र बन गया, जहाँ से इंगलैंड के कारखानों को कच्चा माल मिलने लगा, और उधर इंगलैंड को अपने कारखानों का बना हुआ माल बेचने के लिए भारत में एक बहुत बड़ा बाजार मिल गया। इंगलैंड एक बहुत बड़े शहर के समान हो गया, और भारत उस शहर के आस-पास के देहात के समान।

धन धीरे-धीरे थोड़े लोगों के पास बटुरता गया। भारत और अन्य देशों के रक्त-शोषण से इंगलैंड को इतना अधिक धन मिला कि उसका कुछ अंश वहाँ के मजदूरों तक पहुँचा और उनके रहन-सहन में तरक्की

हुई। पूँजीपतियों ने रियायतें देकर मजदूरों की अशान्ति को रोका-थामा और इसे बढ़ने नहीं दिया। वे अपने साम्राज्यवादी रक्त-शोषण के लाभ की वजह से ऐसी रियायतें आसानी से कर भी सकते थे। मजदूरी की दर बढ़ती गई, मजदूरी के घंटे घटते गए। मजदूरों के फायदे के लिए बीमारी, बेकारी आदि के बीमों का प्रबंध हुआ, और तरह-तरह की सेवा-समितियाँ खोली गईं। इंगलैंड की आम खुशहाली ने मजदूरों के असंतोष को कुंठित कर दिया।

भारतवर्ष में कल-पुर्जेवाले उद्योग-धंधों की कमी और अधिकतर लोगों का खेती पर ही निर्भर होना, इन कारणों से जमीन का भार बढ़ता गया। इस देश में विदेशी मिलों में पैदा होनेवाले माल की खपत होने लगी। यहाँ के घरेलू उद्योग-धंधे कुछ तो जबर्दस्ती नष्ट किए गए और कुछ साम्पत्तिक कारणों से नष्ट हो गए; परन्तु उनके स्थान की पूर्ति किसी प्रकार के व्यवसाय-द्वारा नहीं हो पाई। देश में कल-पुर्जेवाले धंधों के अनुकूल सभी साधन मौजूद थे; परन्तु इंगलैंडवालों ने उसे कोई प्रोत्साहन नहीं दिया। इसके विपरीत, इंगलैंड ने इसमें बाधा डालने के विचार से मशीनों पर टैक्स बढ़ाए। इसका परिणाम यह हुआ कि देश में खेती के सहारे जिंदगी बसर करनेवाले लोगों की संख्या बढ़ती गई, और उसीके साथ-साथ बेकारी और गरीबी तथा देहातों में रहने की प्रथा बढ़ती गई।

इतना सब होते हुए भी ऐतिहासिक तथा साम्पत्तिक प्रगतियों को अधिक समय तक रोक रखना असंभव था। यद्यपि दरिद्रता बढ़ रही थी तो भी कुछ व्यक्तियों ने कहीं-कहीं थोड़ी पूँजी एकत्रित कर नये कारोबार आरम्भ करना चाहा। इस प्रकार देश में कल-पुर्जे के उद्योग-धन्धे आरम्भ हुए। इन कामों में कुछ पूँजी तो भारतवासियों की लगी थी, परन्तु अधिकतर पूँजी विदेशियों ने ही लगाई थी। सब से खास बात यह थी कि जितना धन लगाया गया था, उसपर विदेशी बैंकों का बहुत जबर्दस्त नियंत्रण था। यह सभी लोग जानते हैं कि महायुद्ध से भारतीय

उद्योग-धन्धों की बहुत उन्नति हुई। इसके कुछ समय बाद इंगलैंड ने साम्राज्यवाद की नीति के विचार से अपना रुख बदल दिया, और भारतीय धन्धों को ज्यादातर विदेशी रुपये से उत्साहित करना शुरू किया। भारत के ऊपर ब्रिटिश पूँजी के बढ़ते हुए अधिकार को स्वदेशी कहलानेवाले उद्योग-धन्धे बहुत बड़े हद तक सूचित करते हैं।

पूर्व के सभी देशों में व्यावसायिकता तथा राष्ट्रीयता की लहर बड़ी तेजी के साथ बढ़ती गई। उसने पाश्चात्य देशों की शोषण-नीति को भारी धक्का पहुँचाया। पाश्चात्य पूँजीपतियों के मुनाफे घटने लगे। युद्ध-ऋण तथा महायुद्ध के अन्य अनिष्टकर परिणामों ने उन देशों की नाकों-दम कर रक्खी थी। उनके पास अपने मजदूरों को देने के लिए भी न तो काफी पूँजी और न मुनाफा ही बच रहा था। इस प्रकार मजदूरों में असन्तोष की मात्रा बढ़ती गई। रूस की क्रान्ति से जीवनप्रद प्रेरणा और उत्तेजना भी मजदूरों को मिली।

इसी दरमियान में अन्य दो शक्तियाँ छिपी तौर पर, परन्तु साथ ही बड़ी तेजी से, अपना रंग जमा रही थीं। इनमें से एक शक्ति यह थी कि ट्रस्ट, साझेदारी आदि के कायम होने से पूँजी तथा व्यावसायिक शक्ति पर कुछ ही लोगों का अधिकार बढ़ता जाता था। दूसरी यह थी कि कल-पुर्जों-द्वारा माल की तैयारी में निरंतर उन्नति होती गई। ज्यों-ज्यों मजदूरों का काम मशीनों-द्वारा अधिकाधिक होने लगा, त्यों-त्यों बेकारी भी बढ़ने लगी। इसका एक विचित्र परिणाम हुआ। एक तरफ तो कल-पुर्जों-द्वारा इतनी ज्यादा तादाद में माल तैयार होने लगा, जितना इतिहास में पहले कभी नहीं हुआ था, दूसरी तरफ, उसे खरीदने के लिए बहुत कम लोग रह गए, क्योंकि अधिकतर लोग इतने गरीब हो गए कि वे तैयार माल को खरीदने में असमर्थ थे। असंख्य बेकार लोग भी कुछ कमाई कर नहीं रहे थे। अतः वे खर्च करें तो कहाँ से ? जो लोग थोड़ी-बहुत कमाई कर भी रहे थे, उनमें से अधिकतर लोग बहुत कम खर्च कर सकते थे। एकाएक एक नवीन सत्य बड़े-बड़े व्यापारियों की समझ में

आने लगा (वह अभी तक हिन्दुस्तान के व्यापारी नेताओं की समझ में नहीं आया है)। वह यह कि बहुत बड़ी तादाद में तैयार किये गए माल के लिए यह जरूरी है कि उसकी खपत उतने ही बड़े पैमाने पर हो। लेकिन यदि जन-साधारण के पास पैसा नहीं है, तो वे कैसे कुछ खरीद या उसका उपभोग कर सकते हैं ? ऐसी दशा में माल की तैयारी कैसी ? इस प्रकार माल की खपत कम होने के साथ-साथ पैदावार भी कम होती या घट जाती है, और व्यवसाय के पहिये इतनी धीमी चाल से चलने लगते हैं कि धीरे-धीरे प्रायः उनका चलना ही बन्द हो जाता है। इसकी वजह से बेकारी और भी बढ़ जाती है, और इसका फिर यही असर होता है कि माल की खपत और भी कम होने लगती है।

पूँजीवाद की यह विषम अवस्था है, जिसने गत चार वर्षों से दुनिया को तबाह कर रक्खा है। मुख्य कारण यह है कि संसार-भर में पूँजी का दूषित वितरण है, वह मुट्ठी-भर पूँजीपतियों के पास जमा हो गई है। वर्तमान दुर्व्यवस्था पूँजीवाद का अनिवार्य लक्षण है, वह उसीकी वृद्धि के साथ यहाँ तक बढ़ती जाती है कि अन्त में वह उसी प्रणाली को नष्ट कर डालती है जिसने उसको जन्म दिया था।

बात यह नहीं है कि संसार में धन की कमी है, खाने-पहनने की चीजों की भी कमी नहीं है और न उन्हीं वस्तुओं की कमी है, जिनकी जरूरत मनुष्य को होती है। आज दिन संसार पुराने जमाने से कहीं अधिक सम्पन्न है, और भविष्य में उसकी महान् साम्पत्तिक दशा में अकथनीय उन्नति की भरपूर आशा है। इतना सब होने पर भी संसार का संगठन चकनाचूर हो रहा है। एक ओर असंख्य लोग भूखों मरते और दाने-दाने को मोहताज फिरते हैं। दूसरी ओर खाद्य पदार्थ तथा अन्य उपयोगी वस्तुएँ अधिक पैदा हो जाने के कारण नष्ट कर दी जाती हैं। खेतों की फसलों के नाश के लिए उनमें कीड़े छोड़ दिये जाते हैं। ये फसलें काटी ही नहीं जातीं और खेतों में ही सड़ा करती हैं; तथा राष्ट्रों के प्रतिनिधि इकट्ठे होकर इसपर विचार करते हैं कि गेहूँ, रूई, चाय तथा

अन्य उपयोगी पदार्थों की उपज किस तरह कम की जाय। दुनिया के आरंभ से ही मनुष्य जीवन की अत्यन्त आवश्यक वस्तुओं की प्राप्ति के लिए प्रकृति से लड़ता रहा है, और आज दिन, जब अनंत प्राकृतिक संपत्ति उसके सामने रक्खी है, जिससे दुनिया-भर की दरिद्रता भगाई जा सकती है, उसी मनुष्य ने इस समृद्धि की समस्या को हल करने का सिर्फ यह तरीका निकाला है कि खेतों की उपज नष्ट कर दी जाय और इस प्रकार दुःख तथा गरीबी बढ़ती रहे।

संसार के इतिहास में ऐसा आश्चर्यजनक विरोधाभास और कभी देखने में नहीं आया। इतना तो साफ ही हो गया है कि व्यवसाय की पूँजीवादात्मक प्रणाली—पिछले जमाने में उससे चाहे जितना लाभ क्यों न हुआ हो—सम्पत्ति की उत्पत्ति के मौजूदा तरीकों की वजह से बिलकुल ही अनुपयुक्त हो गई। वर्तमान सामाजिक संगठन की कारीगरी बहुत-बहुत आगे निकल गई है। और यह अगले जमाने के समान ही असमानता हमारी आजकल की ज्यादातर मुसीबतों की जड़ में है। प्रणाली में परिवर्त्तन का विरोध वे अवश्य कर रहे हैं, जिनका पुरानी प्रथा के कायम रहने में ही स्वार्थ है। यद्यपि यह पुरानी प्रथा उनकी आँखों के सामने ही मर रही है, तो भी उनके पास जो थोड़ा-बहुत है दूसरों के साथ अधिकाधिक हिस्सा बटाने के मुकाबिले में उसीको जोर से पकड़कर बैठे रहना वे अधिक पसंद करते हैं।

यह मूल में, जैसा कुछ लोगों का खयाल है, एक नैतिक मसला नहीं है; यद्यपि इसका एक नैतिक पहलू अवश्य है। न तो यह सवाल पूँजीवाद को दोषी ठहराने का है, और न पूँजीपतियों तथा उनके दूसरों को कोसने का ही है। पूँजीवाद से संसार का बड़ा उपकार हुआ है, और व्यक्तिगत रूप से पूँजीपति तो एक बड़ी मशीन के बहुत छोटे-छोटे पुर्जे हैं। सवाल तो यह है कि क्या अब पूँजीवाद के दिन बीत नहीं गये, और उनका स्थान मानव कार्यों की एक श्रेष्ठतर और अधिक विवेकपूर्ण

प्रणाली को न मिल जाना चाहिये, जो मनुष्य के ज्ञान और विज्ञान में वृद्धि के अधिकाधिक अनुरूप हो ?

हिन्दुस्तान में, इस अरसे में, जमीन पर दुस्सह बोझ लदा रहा और बढ़ भी गया। यद्यपि कई स्थानों में व्यवसाय की वृद्धि भी हुई, पर साम्पत्तिक असंतोष बढ़ता ही गया। मध्यम श्रेणीवालों की संख्या बढ़ती गई, और वे आत्म-विकास के पर्याप्त अवसर न पाने पर राजनीतिक रद्दो-बदल के लिए चिल्लाने लगे, और उन्होंने आन्दोलन करना शुरू किया। पूर्व के सभी उपनिवेशों और पराधीन मुल्कों में इन्हींसे मिलते-जुलते कारण काम कर रहे थे। विशेष रूप से लड़ाई के बाद, मिस्र और एशिया के ज्यादातर देशों में राष्ट्रीय आदोलन तेजी से फैले। इन हलचल की तह में मुख्यत गरीबों और मध्यम श्रेणी के निम्न वर्गों की विपत्ति थी। इन आन्दोलन के तरीकों में भी एक अजीब समानता थी—असहयोग, कौंसिलों का बायकाट, माल का बायकाट, हड़ताल, मजदूरों की हड़ताल, आदि। कभी-कभी हिंसात्मक उपद्रव—जैसे, मिस्र और सिरिया मे—हुए लेकिन शान्ति-मय साधनों पर ही अधिकतर जोर दिया जाता रहा। हिन्दुस्तान में, निस्सन्देह, गांधीजी के कहने से अहिंसा को कांग्रेस ने मूल सिद्धान्त करार दिया। राष्ट्रीय आजादी के ये सब आन्दोलन अभी तक जारी हैं। और तब तक जारी रहेंगे जब तक मौलिक समस्या हल नहीं हो जाती। इस समस्या का समाधान, बुनियादी तौर से, स्वराज्य की स्वाभाविक आकांक्षा की केवल पूर्ति से नहीं वल्कि भूख से जलते हुए उदरों के भरने से होगी।

लड़ाई के बाद, एशिया में बढ़ी, क्रान्तिकारिणी, राष्ट्रीय लहर ने थोड़े समय के लिए अपना जोर खो दिया; और परिस्थिति में स्थिरता आ गई। भारत में इसने कौंसिल और एसेम्बली में प्रवेश का रूप धारण किया। यूरप में भी १९२०-२९ का समय काम-काज को फिर से ठीक-ठाक करने और संसार-व्यापी युद्ध से उत्पन्न नई परिस्थितियों के अनुकूल अपने आपको बनाने का जमाना था। वह विप्लव, जो सन् १९१९ और

१९२० में सारे यूरप के ऊपर मँडरा रहा था, बेकार साबित हुआ, और पीछे की तरफ हट गया।

अमेरिका का सोना यूरप में उडेल दिया गया, और उस महाद्वीप की युद्ध से थकी और आशा-हीन जनता किसी हद तक फिर से पनप उठी और (इस तरह से) झूठी समृद्धि का ठाठ दिखाई देने लगा। लेकिन यह समृद्धि असली नींव पर नहीं स्थित थी, और १९२९ में उसका भंडा फूटा, जब अमेरिका ने यूरप और दक्षिण अमेरिका को कर्ज देना बन्द कर दिया। बहुत-से अन्य कारणों और मरते हुए पूँजीवाद की जड़ में व्यापक संघर्ष से, यह भंडा-फोड़ हुआ, और लड़ाई के बाद जो पूँजी-वाद की खुशहाली का कच्चा घरौंदा रचा गया था, वह ढहने लगा। पिछले चार सालों से ढहने का यह क्रम जारी है, और अभी तक उसका अन्त नजर नहीं आता। इसे मंदी, रोजगार की ढिलाई, साम्पत्तिक संकट, आदि नामों से लोग पुकारते हैं, परन्तु वास्तव में, यह पूँजी-प्रणाली का संध्या-काल है। इस (सत्य) को मानने के लिए संसार की परिस्थिति विवश कर रही है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार शून्यावस्था को पहुँच गया; और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग बेकार सिद्ध हुआ। संसार-व्यापी बाजार जो पूँजीवाद का आधार-स्तम्भ था, खतम हो रहा है, और प्रत्येक जातिवाले पागलों की तरह दूसरों को नुकसान पहुँचाकर भी अपने आपको किसी तरह बचाने की कोशिश में लगे हुए हैं। भविष्य में चाहे जो कुछ हो, एक बात तो निश्चित है कि पुरानी प्रथा चल बसी। बादशाह के सारे घुड़सवार और सब मुलाजिम मिलकर भी अब उसे फिर से लौटा नहीं जा सकते।

ज्यों-ज्यों पूँजीवाद की पुरानी प्रथा लड़खड़ाती गई, त्यों-त्यों मजदूरी-पेशावालों की बढ़ती हुई शक्तियाँ उसे और भी अधिक धक्का पहुँचाने लगीं। इस धावे ने, जब यह खतरनाक दिखाई देने लगा, धनिकों को मजबूर किया कि वे अपने छोटे-मोटे भेद-भावों को मिटा दें, और अपने सामान्य शत्रु का मिलकर मुकाबिला करें। फैसिज्म और उसके हल्के

रूपान्तर राष्ट्रीय शासन कहलानेवाले संगठनों का जन्म इन्हीं कारणों से हुआ। दर-असल, धनी, या सम्पत्ति-शास्त्र के एक अमेरिकन विद्वान के शब्दों में 'रखेली'-श्रेणी के लोगों की अपने माल-मता को बचाने की ये अन्तिम कोशिशें हैं। लड़ाई और भी अधिक भीषण रूप धारण करती हुई १९ वीं सदी की प्रजा-सत्ता की प्रणाली को ठुकराती जाती है। लेकिन न तो फैसिज्म और न राष्ट्रीय शासन ने ही मौजूदा पूँजी-प्रणाली के व्यापक विरोधों के मिटाने का कोई तरीका बताया है; और जब तक वे सम्पत्ति की न्यूनता-अधिकता और उसके विभाजन की समस्या को हल नहीं कर सकते, तब तक तो उनका असफल होना अनिवार्य है। बड़े-बड़े पूँजीवादी देशों में से अमेरिका का संयुक्तराष्ट्र ही एक ऐसा मुल्क है, जहाँ दौलत की कमी-बेशी को किसी दर्जे तक घटाने का राष्ट्र की ओर से प्रयत्न किया जा रहा है। यदि अन्तिम परिणाम तक वह ले जाया जाय तो प्रेसिडेंट रूजवेल्ट के कार्यक्रम से एक तरह का राष्ट्रीय साम्यवाद संगठित हो जायगा और यह अधिक सम्भव है कि उनका यह प्रयत्न असफल हो, तब फैसिज्म की तरह कोई योजना काम में लाई जाय। इंगलैंड—जैसी उसकी आदत है—दृढ़ता के साथ किसी-न-किसी तरह समस्या को हल करने में पिला हुआ है, और इस दाव-घात में है कि कोई ऐसी बात हो जाय जिससे उसकी कठिनाई का अन्त हो। इस अरसे में उसे हिन्दुस्तान से सोने और अन्य प्रकार की सहायता से बहुत मदद मिली है लेकिन इन सब से अस्थायी लाभ ही हो सकता है। जातियाँ नीचे की तरफ फिसलती हुई कगार के पास पहुँच रही हैं।

इस तरह से, यदि आज हम दुनिया पर एक नजर डालें तो हमें पता लगेगा कि पूँजीवाद, सम्पत्ति के पैदा करने के मसले को तय करने के बाद उससे सम्बन्धित धन के वितरण की समस्या को संतोषजनक रीति से हल करने में असमर्थ है। पूँजी-प्रणाली संतोषप्रद विभाजन को स्वभावतः हल कर ही नहीं सकती, और सम्पत्ति की केवल उत्पत्ति संसार

को ऊपर से वजनी और अस्थिर कर देती है। सम्पत्ति के विभाजन की उचित व्यवस्था से पूँजी-प्रणाली की मौलिक असमानता का अन्त हो जायगा। और स्वयमेव पूँजीवाद के स्थान में एक अधिक वैज्ञानिक प्रणाली स्थापित हो जायगी।

पूँजीवाद का परिणाम साम्राज्यवाद है, और उसीके परिणाम हैं वे पारस्परिक संघर्ष, जो कच्चे माल की पैदाइश और पक्के माल की खपत करने के लिए नये-नये उपनिवेशों की तलाश में साम्राज्यवादी शक्तियों के बीच में होते रहते हैं। इससे उपनिवेशों में निरंतर बढ़ती हुई राष्ट्रीयता के संघर्ष भी उत्पन्न हुए हैं। इसीकी वजह से बारम्बार राजनीतिक और साम्पत्तिक संकट उपस्थित होते हैं, जिनके कारण साम्पत्तिक और आयात-निर्यात-सम्बन्धी करों की लड़ाइयाँ और बड़े-बड़े राजनीतिक संग्राम हुए हैं। अगला युद्ध पिछले संघर्ष से भी भीषण होता जाता है, और अब तो हम संकट और मंदी के व्यापक दौरा के बीच में हैं, और युद्ध की घटाएँ आसमान को काला कर रही हैं।

यह याद रखना चाहिए कि आज दिन दुनिया में भोजन और जीवन के लिए अन्य आवश्यक वस्तुओं की भरमार है। इतने पर भी भयंकर दरिद्रता फैल रही है, क्योंकि मौजूदा प्रणाली को यह नहीं मालूम है कि उनका वितरण किस तरह से किया जाय। अन्तर्राष्ट्रीय कान्फ्रेंसें बार-बार परन्तु व्यर्थ में होती हैं, क्योंकि वे उन्हीं लोगों की प्रतिनिधियों की कान्फ्रेंसें थीं जिनका मौजूदा प्रणाली के साथ स्वार्थ बँधा हुआ है, और, इसलिए, वे उस प्रणाली को छूने तक की हिम्मत न कर सके। खचाखच भरे हुए कमरों में वे उस समय अंधों की तरह टटोलते फिरते हैं, जब उस मकान की नींव, जिसको उन्होंने बनाया था, विज्ञान और साम्पत्तिक शक्तियों की वृद्धि से खोखली हो रही है। सभी जगहों के विचारकों ने मौजूदा प्रणाली की अपूर्णता को स्वीकार किया है, यद्यपि दशा को सुधारने के साधनों के सम्बन्ध में उनमें आपस में मतभेद है। कम्यूनिस्ट और साम्यवादी साम्यवाद के मार्ग को विश्वास के साथ दिखाते हैं, और

उनकी शक्ति दिनों-दिन बढ़ रही है, क्योंकि विज्ञान और न्याय उनके पक्ष में है। कुछ दिन हुए अमेरिका में टैकनोक्रैटस् की बड़ी धूम मची थी। यह इंजीनियरों का एक समूह है जो रुपये को ही उठा देना और उसके स्थान में शक्ति के परिमाण को, जिसे वे अर्ग कहते हैं, रखना चाहते हैं। इंगलैंड में मेजर डगलस के 'सोसल क्रेडिट' के सिद्धान्त का अधिकाधिक प्रचार हो रहा है, जिनके अनुसार देश-भर के माल की पैदावार सारी जनता में बराबर बराबर—जैसे किसी कम्पनी का मुनाफा हिस्सेदारों में बाँट दिया जाता है—बाँट दी जायगी। घरेलू और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की जगह माल की अदला-बदली होने लगी है। सम्पन्न लोगों और विशेषकर विचारशील आदमियों में इस तरह के क्रान्तिकारी सिद्धान्तों का फैलना स्वत इस बात का प्रमाण है कि दुनिया के दृष्टिकोण में व्यापक उलट-पुलट हो रहा है। हममें से कितने लोग ऐसे संसार का अनुमान भी कर सकते हैं, जिसमें रुपये का चलन न होगा, और जिसमें मूल्य अदृश्य अर्गों में कूता जाया करेगा ? परन्तु गैर-जिम्मेदार तहलका-मचाने-वाले नहीं, बल्कि प्रसिद्ध सम्पत्ति-शास्त्र-वेत्ता और इंजीनीयर, आज दुनिया के सामने यही प्रस्ताव गम्भीरता और उत्साह के साथ रख रहे हैं। यह संसार की वस्तु-स्थिति है।

एशियाई वस्तु-स्थिति का इससे गहरा सम्बन्ध है, परन्तु वह कई बातों में निराली भी है। एशिया राष्ट्रीयता और साम्राज्यवाद के संघर्ष का प्रधान क्षेत्र है। यूरप और अमेरिका के मुकाबिले में एशिया अभी बहुत पिछड़ा हुआ है। उसकी जन-संख्या बहुत बड़ी है, जिसमें पक्के माल की खपत अच्छी हो सकती है, यदि खरीदने के लिए उनके पास धन हो। विपत-ग्रस्त साम्राज्यवादी राष्ट्रों को, जो पागलों की तरह साम्पत्तिक विकास और प्रसार के लिए क्षेत्र ढूँढ रहे हैं, एशिया में अब तक काफी मैदान मिल सकता है, यद्यपि इसमें राष्ट्रीयता बहुत-से अड़ंगे लगाती है। इसलिए 'एशिया में बढ़ चलो' की आवाज सुनाई देती है, ताकि पश्चिम के फालतू माल की निकासी का रास्ता निकल आये और

इस तरह से एक बार पूंजीवाद फिर से स्थायी हो जाय। पूर्व में पूँजीवाद एक नवजात और उन्नति-शील शक्ति है। उसने अभी तक, जैसे भारत में, सरकारी सत्ता का एक दम से तख्त उलट नहीं पाया है, लेकिन इसके पूर्व कि पूंजीवाद अपने को स्थायी बना सके, अन्य शक्तियाँ—जो उसकी विरोधिनी हैं—उससे मोर्चा लेने के लिए उठ खड़ी हुई हैं। यह तो प्रत्यक्ष ही है कि यदि पूंजीवाद यूरप और अमेरिका में नष्ट-भ्रष्ट हुआ तो वह एशिया में भी जीवित नहीं रह सकता।

एशिया में—यदि थोड़ी देर के लिए हम एशिया के सोवियट प्रदेशों को छोड़ दें—राष्ट्रीयता आज दिन भी सब से सबल शक्ति है। यह स्वाभाविक है, क्योंकि पराधीन देश पहले राष्ट्रीयता की ही परिभाषा में सोचता-विचारता है। लेकिन वे शक्तिशाली साम्पत्तिक प्रवृत्तियाँ, जो संसार में आज दिन परिवर्तन कर रही हैं, निरंतर इस राष्ट्रीयता को अधिकाधिक प्रभावित कर रही हैं, और हर जगह वह साम्यवाद के जामे में प्रकट होती जाती है। धीरे-धीरे राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए राष्ट्रीय संघर्ष, साम्पत्तिक स्वतंत्रता के लिए सामाजिक संघर्ष भी होता जा रहा है। स्वाधीनता या साम्यवादी राष्ट्र ध्येय हैं, इस मसले के दो पहलुओं पर कमो-वेश जोर देने के साथ-साथ ज्यों-ज्यों राजनीतिक स्वाधीनता विलम्ब से मिलती है, त्यों-त्यों दूसरा पहलू अधिक महत्व-शील होता जाता है। और संसार की स्थिति को विशेष रूप से देखते हुए यह बहुत ही सम्भव मालूम होता है कि एशिया के कम-से-कम कुछ देशों का राजनीतिक और साम्पत्तिक उद्धार साथ-ही-साथ होगा।

यह एशियाई वस्तु-स्थिति है।

हिन्दुस्तान में, एशिया के अन्य औपनिवेशिक देशों की भाँति आज दिन हमें पुरानी राष्ट्रवादिनी विचार-शैली और नई साम्पत्तिक विचार-शैली के बीच में संघर्ष दिखाई देता है। हममें से बहुतेरे लोग पुरानी राष्ट्रीय परम्परा में पले हैं, और आजन्म की मानसिक विचार-धाराओं को छोड़ना हर एक के लिए कठिन होता है। परन्तु तो-भी हम अनुभव

करते हैं कि यह दृष्टि-कोण अपूर्ण है, वह हमारे देश या सारे संसार की परिस्थिति से मेल नहीं खाता, दोनों में व्यापक अन्तर है। हम इस अन्तर को मिटाने की चेष्टा तो करते हैं, लेकिन नई विचार-शैली को अपनाने की क्रिया सदैव दु खदायी होती है। इसी कारण से हममें से अनेक आज घबड़ा और हैरान हो रहे हैं। लेकिन पार तो जाना ही है। यदि समय-समय पर हमें किनारे बँधे हुए पानी में पड़े-पड़े, उन नौकाओं से आन्दोलित लहरों के नीचे दबना नहीं है, जो प्रगति की धारा की सरिता में धारा के साथ-साथ नीचे बहती चली जाती हैं, तो हमें समझ लेना चाहिए कि १८ वीं सदी के साधनों से २० वीं सदी की समस्याएँ हल नहीं हो सकतीं, सातवीं या उससे भी पहले की सदियों की बात ही क्या ?

एशिया और ससार की वस्तु-स्थिति का समष्टि रूप से अवलोकन करने के बाद, हमें अपनी राष्ट्रीय समस्या का कहीं अधिक स्पष्ट बोध हो सकता है। भारत की स्वतंत्रता का हममें से हर एक पर गहरा असर पड़ता है, और हम उसे एकदम से पृथक मसला समझ लेते हैं, मानो उसका ससार की घटनाओं से कोई सम्बन्ध ही नहीं है। यदि हम चाहें भी तो उसे ससार की अन्य घटनाओं से अलग नहीं कर सकते। जो हिन्दुस्तान में हो रहा है, इसका संसार पर प्रभाव पड़ेगा, और दुनिया में होनेवाली घटनाएँ भारत के भविष्य पर अपना असर डालेंगी। सच-मुच हम यह कह सकते हैं कि आज दिन संसार में तीन बड़ी समस्याएँ हैं—पूँजीवाद का भविष्य, जिसका अर्थ है यूरप और अमेरिका का भविष्य, भारतवर्ष का भविष्य और चीन का भविष्य; और तीनों का ही एक दूसरे के साथ घनिष्टतम सम्बन्ध है।

भारत की लड़ाई आज दिन उस बड़ी लड़ाई का एक अंग है, जो पद-दलितों के उद्धार केलिए तमाम दुनिया में मच रही है। वास्तव में यह एक साम्पत्तिक सग्राम है, जिसकी प्रेरक शक्तियाँ भूख और

आवश्यकताएँ हैं, यद्यपि वह राष्ट्रीय और दूसरे रूपों में दिखाई देती हैं।

भारतीय स्वतंत्रता आवश्यक है, क्योंकि भारतीय जनता और मध्यम श्रेणी के लोगों पर लदा हुआ बोझ इतना भारी है कि वह दुरूह हो रहा है; और उसे या तो हलका करना या एकदम से हटाना पड़ेगा। इस बोझे के कारण विदेशी शासन या हिन्दुस्तान और विदेशों के कुछ वर्गों के स्वार्थ-पूर्ण हित हैं। स्वाधीनता की उपलब्धि, जैसा गाँधीजी ने अभी हाल में कहा था, स्वार्थ-पूर्ण हितों के नाश का सवाल है। यदि भारत में विदेशी शासन के स्थान पर ऐसा स्वदेशी शासन हो जाय, जो स्वार्थ-पूर्ण हितों को जैसे-का-तैसा रहने दे, तो वह आजादी की छाया भी न होगी।

स्वतंत्रता को कागजी शासन-विधानों के रूप में देखने की हमें अजब लत पड़ गई है। वकीलों की-सी इस मानसिक प्रवृत्ति से अधिक हेय और क्या हो सकता है, जो जीवन और सारवान साम्पत्तिक मसलों की उपेक्षा करती हुई विद्यमान तथा परम्परा-सिद्ध प्रमाणों के अधार पर विचार करती है। परम्परा-सिद्ध प्रमाणों में अत्यधिक इस श्रद्धा ने वकील के सिर को, किसी प्रकार से, पीछे की तरफ घुमा देने में सफलता पाई है, और अब वकील साहब आगे की ओर देख ही नहीं सकते। लँगड़े और लूले भी धीरे-धीरे आगे की ओर बढ़ते रहते हैं, सिर्फ वकील ही नहीं आगे बढ़ता, क्योंकि उसे धर्मान्ध की तरह विश्वास है कि जो कुछ पिछले जमाने में हुआ है, वही सत्य है।

राउंड टेबिल की योजना वैसी ही मुर्दा है, जैसे रावण, और उसपर विचार करना अनावश्यक है। भारतीय जनता को आजादी का एक जर्रा-भी देना उसका उद्देश्य न था, उसने तो इस बात की कोशिश की कि ब्रिटिशों के पक्ष में कुछ स्वार्थ हित हो जाय; और इसमें उसे काम-याबी हुई। उसने उस प्रश्न का, जिसको मैंने इस निबन्ध के आरम्भ

में उठाया है, अपने पुजारियों को पूरी तौर से संतुष्ट करनेवाला जवाब दिया है—किसकी आजादी के लिए हम कोशिश कर रहे हैं? उसने भारत में स्थित ब्रिटिश स्वार्थों को अधिक संरक्षण का आश्वासन और स्वतंत्रता दी है। वह तो, जैसा श्रीविट्ठल भाई पटेल ने फर्माया था, वाइसराय का स्वराज्य स्थापित करती है। उसने ब्रिटिश पूँजी और ब्रिटिश मुलाजिमों के हितों को और भी मजबूत कर दिया, और कई बातों में उन्हें वे अधिकार बढ़ा दिए, जो उन्हें पहले प्राप्त भी न थे। उसने विदेशी सैनिक शासन का, अनिश्चित काल के लिए, भारत के ऊपर कब्जा कायम किया। इसके अलावा, उसने देशी नरेशों और भूमिपतियों के हितों को अधिक स्वाधीन और महत्त्व-पूर्ण बनाया। सक्षेप में, सारी योजना की मंशा सिर्फ यही थी कि बहुत-से स्वार्थों की रक्षा हो, और वे बहुत समय तक स्थायी रहें और भारतीय जनता का चूसा जाना जारी रहे। इस आवश्यक और अपनी दृष्टि से लाभदायक काम को करने के बाद, योजना को तैयार करनेवालों ने हमें बताया कि स्वशासन एक बहुत लम्बे खर्चे की चीज है और हर एक सूबे में उसकी वजह से करोड़ों का व्यय बढ़ जायगा। इस तरह से न सिर्फ जनता पर पहले से लदे हुए बोझ ही कायम रहेंगे बल्कि उसके साथ और कई नये बोझ लाद दिये जायँगे। समस्या का वह होशियारी से भरा हुआ यह समाधान है, जिसे राउंड टेबिल कान्फरेंस में जमा होनेवाले समझदार और महापुरुषों ने खोज निकाला है। अपने-अपने वर्गों के हितों की रक्षा में संलग्न, वे हिन्दुस्तान की ३५ करोड़ रियाया को एकदम भूल ही गये।

इस तरीके की बेवकूफी को राजनीति का एक छोटा-सा बच्चा भी बता सकता है। राष्ट्रीय हलचल का सारा आधार और उसकी सारी प्रेरणा साम्पत्तिक दशा को सुधारने, जनता को पीसनेवाले बोझों को फेंक देने, और भारतीय प्रजा के चूसने का अन्त करने, की भावनाएँ हैं। यदि ये बोझे सिर्फ कायम ही न रहे, बल्कि उनमें वृद्धि भी हुई तो इस बात को समझने के लिए किसी बड़े दिमाग की जरूरत नहीं है कि लड़ाई

सिर्फ चलती ही न रहेगी बल्कि और भी गम्भीर हो जायगी। नेता और व्यक्ति चाहे रहें या जायँ ; वे चाहे थक जायँ और हाथ खींच लें, वे चाहे समझौता कर लें या दगा दे दें; लेकिन चूसी जानेवाली, पीड़ित प्रजा को तो लड़ाई में पिले रहना ही है, क्योंकि उसको अकसर लड़ने के लिए भूख मजबूर करती है। स्वराज्य, या चूसे जाने से छुटकारा, न तो कोई सुन्दर कागजी विधान है, और न वह अतीत, भविष्य की समस्या ही है। वह तो अब और यहाँ का मसला है, तुरन्त छुटकारा पाने का सवाल है। सुन्दर मसाले मे पका हुआ बकरे का गोश्त खानेवाले के लिए जायकेदार भले ही हो, लेकिन बेचारे बकरे की तो इस दलील से कुछ भी तसल्ली न होगी कि महाप्रभुओं के लिए बलिदान होना अच्छा है, और मसालों के साथ, मर कर भी सहभोज्य में अपार आनन्द है।

अतएव भारत का तात्कालिक ध्येय उनकी जनता के चूसे जाने का अन्त कर देना ही हो सकता है। राजनीतिक दृष्टि से, उसका अर्थ स्वतंत्रता और ब्रिटिश यानी साम्राज्यिक सत्ता से सम्बन्ध-विच्छेद होना चाहिए, साम्पत्तिक और सामाजिक दृष्टि से, उसका परिणाम वर्ग-विशेषों के विशिष्ट अधिकारों और स्वार्थ-हितों का अन्त होना चाहिए। सारा संसार इसीकी चेष्टा कर रहा है। भारत इससे कम के लिए प्रयत्न नहीं कर सकता। और इस तरह से भारतीय स्वतंत्रता की लड़ाई संसार-व्यापी संग्राम से सम्बन्धित है। क्या हमारा ध्येय मानव-जाति की भलाई है, या लाड-प्यार से बिगड़े हुए समूहों के विशिष्ट अधिकारों और स्वार्थ-हितों का संरक्षण करना है? इस सवाल का जवाब हममें से हर एक को साफ-साफ लफ्जों में और बिला किसी हीले-हवाले के देना होगा। बाल-की-खाल निकालने की गुंजाइश ही नहीं है, जब राष्ट्रों और करोड़ों-अरबों मनुष्यों के भाग्य का निपटारा होने जा रहा है। राजमहलों की चालबाजियों, सभा-भवनों की राजनीति, समझौते और लेन-देन, का जमाना उसी दिन खतम हो गया, जब जनता ने राजनीति में प्रवेश किया। सभ्य पुरुषों की-सी उनमें व्यवहार-कुशलता

नहीं है। हमने तो कभी उन्हें व्यवहार-कुशलता सिखाने का कष्ट ही नहीं उठाया। उन्होंने तो जो-कुछ सीखा, वह घटना-क्रम की पाठशाला में सीखा है। और दु:ख-दर्द ही उनको पढ़ानेवाला है। बड़े-बड़े आन्दोलनों से, जो व्यक्तियों और श्रेणियों के असली रूप को प्रकट कर देते हैं, उन्होंने राजनीति का पाठ पढ़ा है; और असहयोग-आन्दोलन ने भारतीय जनता को कई ऐसे सबक़ पढ़ाए हैं, जिन्हें वे कभी न भूलेंगे।

स्वतंत्रता एक ऐसा शब्द है, जिसका मौके-बे-मौके कुप्रयोग किया जाता है। उससे वह बात भी अच्छी तरह से नहीं प्रकट होती, जिसको पाने की कोशिश में हम लगे हैं। परन्तु इसको छोड़कर, कोई दूसरा शब्द भी अधिक उपयुक्त नहीं मिलता है। अधिक उपयोगी शब्द के अभाव में हमें इसीका प्रयोग करना पड़ता है। राष्ट्रीय एकाग्रता ऐसे संसार के लिए न तो वाञ्छनीय और न सम्भाव्य आदर्श ही है, जो दिन-पर-दिन एक होती जा रही है। अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्र के अन्दर, पारस्परिक सहयोग का दुनिया में बोल-बाला है, और भिन्न-भिन्न राष्ट्र एक दूसरे के अधिकाधिक आश्रित होते जाते हैं। इस ऐतिहासिक प्रवृत्ति के विरुद्ध हमारा राष्ट्रीय आदर्श और ध्येय नहीं हो सकते, संसार-व्यापी सहयोग और वास्तविक अंतर्राष्ट्रीयता के पक्ष में संकीर्ण राष्ट्रीयता को छोड़ने के लिए हमें तैयार रहना चाहिए। अतएव, हमारे लिए स्वतंत्रता का अर्थ अन्तर्राष्ट्रीय वैराग्य नहीं, किन्तु साम्राज्यवादी आधिपत्य से छुटकारा ही होगा। क्योंकि ब्रिटेन आज-दिन साम्राज्य-वाद का प्रतिनिधि हो रहा है, इसलिए हमें स्वतंत्रता तभी मिल सकती है जब ब्रिटिश-सम्बन्ध का विच्छेद हो जाय। ब्रिटिश जनता से हमारी कोई लड़ाई नहीं है; लेकिन ब्रिटिश साम्राज्यवाद और भारतीय स्वतंत्रता में किसी भी तरह का समझौता होना असम्भव है, और दोनों के बीच में कभी कोई सन्धि भी नहीं हो सकती है। यदि ब्रिटिश से साम्राज्यवाद उठ

जाय तो खुशी से हम विस्तृत अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उनके साथ सहयोग कर सकेंगे, अन्यथा नहीं।

उदार और मजदूर दलों के ब्रिटिश राजनीतिज्ञ अकसर हमें संकीर्ण राष्ट्रीयता की बुराइयाँ बताते रहते हैं। और वे उसकी खूबियों पर भी जोर देते हैं जिसे पहले ब्रिटिश साम्राज्य कहते थे परन्तु जो अब 'स्वतंत्र ब्रिटिश राष्ट्रों का मंडल' के गोल-मोल नाम से प्रसिद्ध किया जाता है। सुन्दर और उदार शब्दों और वाक्यों के आवरण से वे साम्राज्य के बीभत्स और भीषण मुखड़े को ढकने की चेष्टा में लगे हुए हैं और वे उसके प्राण-घातक आलिंगन में हमें फँसा रखने की कोशिशें भी करते हैं। भारत के कुछ सार्वजनिक नेता, जिनको ऐसी बातों का अधिक ज्ञान होना चाहिए, जब *अन्तर्राष्ट्रीयता* के गुण बखानते हैं तब उनका इशारा ब्रिटिश साम्राज्य की ओर होता है, वे शोक-भरे शब्दों में हमसे कहते हैं कि उस अद्भुत चीज (जिसे कोई हमें दे भी नहीं रहा है), औपनिवेशिक स्वराज्य, के बजाय स्वतंत्रता की माँग पर जोर देकर हम लोग बहुत ही संकीर्ण-हृदयता का परिचय देते हैं। अंगरेज, जैसा सभी जानते हैं, नैतिक भावनाओं से अपने स्वार्थ-हितों की गंगा-मेजी करने में उस कौशल से काम लेने के आदी हैं, जिसे देखते ही बनता है। यह शायद अचम्भे की बात न हो, परन्तु यह उल्लेखनीय है कि हमारे ही कुछ देशवासी इस ऊपरी तौर से नैतिक और ढोंग से भरी हुई चाल में कैसे झुक जाते हैं। जो अपनी आँखें बन्द किए रहते हैं, उनके लिए तो दिन की रोशनी भी बेकार ही है। यह ध्यान में रखने की बात है कि 'लीग आफ नेशन्स' के द्वारा या और तरीकों से अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग में सब से बड़ा अड़ंगा इंगलैंड की पर-राष्ट्र-सम्बन्धी नीति से लगता आया है। यूरप और अमेरिका के सभी लोग इस बात को जानते हैं, लेकिन हममें वे लोग, जो पर-राष्ट्रीय राजनीति को अंगरेजी चश्मों से देखते हैं, इस मसले को अबतक नहीं समझ पाए हैं। निःशस्त्रीकरण, हवाई-जहाजों से बम-बाजी, मंचूरिया के विषय में नीति,

इंगलैंड के रुख को जाहिर करनेवाली हाल की घटनाएँ हैं। पैरिस के कैलाग-ब्रियाँ पैक्ट, जिससे लड़ाई गैर-कानूनी करार दी जाती, को इंगलैंड ने अपने साम्राज्य के सम्बन्ध में कुछ ऐसी शर्त्तों और सरक्षणों के साथ मंजूर किया कि पैक्ट ही बेकार हो गया। ब्रिटिश साम्राज्यवाद और असली अन्तर्राष्ट्रीयता में जमीन-आसमान का अन्तर है; और साम्राज्य के पथ से हम अन्तर्राष्ट्रीयता तक कभी नहीं पहुँच सकते।

हमारे सामने और संसार के सामने, असली सवाल है शासन में—राजनीतिक, सामाजिक और साम्पत्तिक शासन में—व्यापक रद्दोबदल करना। इसीके द्वारा हम भारत को प्रगति के पथ पर ला सकते हैं और अपने देश के निरन्तर अध पतन को रोक सकते हैं। किसी क्रान्तिकारी युग मे, जैसा आज दिन दुनिया में उपस्थित है, हुकूमत को मौजूदा तरीकों से चलाने और उनमें मामूली सुधार और उलट-फेर करने की कोशिशों का खयाल करना अपनी ताकत को मुफ्त में बरबाद करना है। 'तमाम संसार' मुसोलिनी कहता है,—'क्रान्ति-मय है। स्वयमेव घटनाएँ, किसी दुर्दमनीय शक्ति की तरह, हमें बड़े जोर से आगे की ओर धकिया रही हैं।' व्यक्ति, वे चाहे जितने बड़े क्यों न हों, गौण ही प्रभाव डाल सकते हैं जब संसार चंचल होता है। कुछ थोड़ी हद तक वे गति की प्रमुख धारा को कहीं-कहीं चाहे बदल भले ही दें; लेकिन द्रुत-गामी प्रवाह को न तो वे रोक ही सकेंगे और न रोक ही सकते हैं। अतएव, वही सधि स्थायी हो सकती है, जो परिस्थितियों के साथ की जाय, न कि सिर्फ व्यक्तियों के साथ।

भारत किस ओर ? निस्सन्देह, सामाजिक और साम्पत्तिक समानता के महान् मानव ध्येय की ओर; राष्ट्र से राष्ट्र, और वर्ग से वर्ग, के रक्त-शोषण के अन्त की ओर; अंतर्राष्ट्रीय, सहयोगी, साम्यवादी विश्व-संघ के अन्तर्गत राष्ट्रीय स्वाधीनता की ओर। यह किसी आदर्शवादी का एक सार-हीन स्वप्न-मात्र नहीं है, जैसा कुछ लोग समझ बैठे हैं। उसकी सद्धि आज हमारे हाथ में न हो, लेकिन देखनेवाले क्षितिज पर उसको

उदय होते हुए देख सकते हैं। और यदि मान भी लें कि हमारे ध्येय की प्राप्ति में विलम्ब है, तो भी कुछ परवाह की बात नहीं। यदि हमारे पद ठीक दिशा की ओर बढ़ रहे और हमारी आँखें धीरता के साथ आगे की ओर देख रही हैं। महत्त्वाकांक्षा के प्रयत्न में ही आनन्द है, उल्लास है और किसी अंश तक प्राप्ति की आशा भी है। जैसा बर्नर्ड-शा ने कहा है, "यही जीवन में सच्चा सुख है—ऐसे उद्देश्य में, जिसे तुम खुद महत्त्व-पूर्ण समझते हो, काम आ जाना; इसके पहले कि तुम घूर पर रद्दी की तरह उठाकर फेंक दिये जाओ, काम करते-करते पूर्ण रूप से घिस जाना, प्रकृति की एक शक्ति बन जाना कहीं अच्छा है बजाय इसके कि कोई आदमी रोग और आपत्तिओं का एक ज्वर-पीडित, स्वार्थ-पूरित, क्षुद्र कीड़ा बना हुआ रोता फिरे कि दुनिया उसको सुखी बनाने की ओर कछ ध्यान नहीं देती।"

—:०.—

कांग्रेस और साम्यवाद

साम्यवाद भला हो या बुरा, सुदूर भविष्य का एक सपना-मात्र हो, या इस जमाने की अहम समस्या, पर इतना तो जरूर है कि इसने आज हम हिन्दुस्तानियों के दिमाग में एक अच्छी जगह कर ली है। इस शब्द की काफी खींचातानी हुई है और हमसे जोर देकर कहा जाता है कि इसमें हिंसा की बू है या इसके पीछे कम्युनिज्म की छाया है।

सच तो यह है कि साम्यवाद क्या है, बहुतेरे आलोचकों की समझ में ही नहीं आया है। उनके दिमाग को इसकी एक धुँधली तस्वीर ही नजर आती है। पेशेवर अर्थ-शास्त्री भी, सरकारी प्रचारकों की तरह, इसमें ईश्वर और धर्म को घसीटकर या विवाह और स्त्रियों के चरित्र-भ्रष्ट होने की बातें कहकर इसकी असलियत को खराब कर देते हैं। हमें इसके लिए उलाहना नहीं देना है, हालांकि ऐसे लोगों को, जो कहे कि हम अच्छी तरह पढ़-लिख सकते हैं, वर्णमाला समझाना एक झंझट का काम है। आश्चर्य्य तो यह है कि इस तरह की बातें, साम्यवाद के बारे में यह गर्जन-तर्जन, वे करते हैं, जिन्हें यह पसंद नहीं, जो इस शब्द को डिक्शनरी में भी रहने देना नहीं चाहते, जो इस विचार-धारा के विरोधी हैं।

साम्यवाद तो—जैसा कि हर एक स्कूली छात्र को जानना चाहिए—एक ऐसे आर्थिक सिद्धान्त का नाम है जो मौजूदा दुनिया के उलझनों

को समझने और उन्हें सुलझाने की कोशिश करता है। यह इतिहास समझने का नया दृष्टिकोण और उससे मानव समाज को संचालित करने वाले नियमों को ढूँढ निकालने का नया तरीका भी है। दुनिया के एक काफी तादाद के लोग इसमें विश्वास करते हैं और इसे कार्य-रूप में परिणत करना चाहते हैं। प्रशान्त महासागर से बाल्टिक सागर तक फैला हुआ प्रशस्त भूखंड तो इसके अधीन हो ही गया है, साथ ही फ्रांस-स्पेन-जैसे दूसरे-दूसरे मुल्क भी इसकी परीधि तक पहुँच गये हैं। इस समय दुनिया में शायद ही ऐसा कोई देश होगा, जहाँ इसके पक्के अनु-यायी काफी तादाद में न हों। इसके सिद्धान्त को माननेवाले किसीपर खाहमखाह इसकी सचाई मढ़ना नहीं चाहते। लेकिन वे हम हिन्दुस्ता-नियों से इतनी आशा तो जरूर करते हैं कि हम इसपर गौर के साथ निष्पक्ष होकर मनन करें। वे हमसे जानना चाहते हैं कि हम अपनी आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं को किस तरह हल कर सकते हैं। इसपर सोचने के बाद हमें हक है कि हम इसे एकदम अस्वीकार कर दें या अगर सोलह-आने कबूल न करें तो कम-से-कम कुछ सबक तो सीखें। जो आन्दोलन दुनिया के करोड़ों दिल-ओ-दिमागों पर कब्जा किये हुए है, उसकी तरफ से एकदम आँखें बन्द कर लेना अक्लमन्दी का रास्ता तो न होगा।

लेकिन हाँ, यह कहना सही है कि इस समय राजनीतिक समस्या ही प्रमुख चीज है। बिना आजादी के 'साम्यवाद' या हमारे आर्थिक संगठनों के आमूल परिवर्त्तन की बातें बिल्कुल थोथी, सिर्फ खयाली पोलाव है। साम्यवाद पर किसी तरह का बहस-मबाहसा करने से गड़बड़ मच जाती है और हम काम करनेवालों में फूट पैदा हो जाती है। राजनीतिक आजादी पर ही हमें अपनी ताकत केन्द्रित करनी चाहिए। यह दलील गौर करने लायक है क्योंकि हमारी कोई हरकत ऐसी नहीं होनी चाहिए जिससे साम्राज्यवाद के विरुद्ध लिया गया हमारा संयुक्त मोरचा टूट जाय और हम कमजोर पड़ जायँ। कट्टर-से-कट्टर साम्यवादी भी कुछ हद

तक इस बात को मानता है, क्योंकि वह समझता है कि इस समय राजनीतिक स्वतंत्रता ही हमारा सब से पहला और जरूरी मकसद है। दूसरी-दूसरी चीजें तो इसके बाद आप-से-आप खुद चली आयँगी। और इसके दूसरा ठोस परिवर्तन हो नहीं सकता।

इस तरह हमारे लिए एक बड़ा 'कौमन ग्राउण्ड' है। राष्ट्रीयता हमारी सब से पहली आवश्यकता और चिन्ता है, यह तै है। लेकिन, फिर भी इस सम्मिलित लक्ष्य को भी देखने का तरीका एक नहीं है।

कोई नहीं चाहता कि हम कार्यकर्त्ताओं में फूट पैदा हो जाय। यह तो सभी हमेशा से कहते आ रहे हैं कि हम अपने शक्तिशाली दुश्मन से संयुक्त मोरचा लें। लेकिन हम यह कैसे भुला सकते हैं कि हमारे अन्दर परस्पर स्वार्थों के संघर्ष मौजूद हैं और जैसे-जैसे हम सेयासी तरक्की करते जाते हैं, साम्यवाद और आर्थिक बातों को तो दूर रखिए, हमारे ये संघर्ष ज्यादा साफ होते जाते हैं। जब कांग्रेस गरम-दल-वालों के हाथ में आई तो नरम-दल-वाले हट गये। इसका सबब कोई आर्थिक पहलू नहीं था, बल्कि जब हम राजनीतिक प्रगति में बहुत आगे बढ़ने लगे और नरम-दल-वालों ने समझकर या बिना समझे देखा कि इतना आगे बढ़ना उनके स्वार्थ के लिए खतरनाक साबित होगा, तो वे अलग हो गये। ताज्जुब की बात तो यह है कि बावजूद इसके कि हमें अपने कुछ पुराने साथियों से जुदा होने पर बहुत अफसोस होता, इससे कांग्रेस कमजोर नहीं हुई। कांग्रेस ने एक दूसरी बड़ी तादाद को अपने अन्दर खींच लिया और वह एक अधिक शक्तिशाली और ज्यादा प्रतिनिधित्व करनेवाली संस्था हो गई। इसके बाद असहयोग का जमाना आया और फिर कुछ आदमी बहुमत के साथ लम्बी छलांग मारने में असमर्थ हो गये। वे भी हटे (इस बार भी राजनीतिक बुनियाद पर ही, हालांकि इसकी आड़ में बहुतेरी दूसरी बातें भी थीं)। वे हट गये, फिर भी कांग्रेस कमजोर नहीं हुई। एक बड़ी तादाद में नये लोग इसमें शामिल

हुए और अपनी लम्बी तवारीख में पहली बार यह हमारे देहातों में एक जबरदस्त शक्ति बनी। इस तरह यह भारत का प्रतिनिधित्व करनेवाली और अपने आदेशों से करोड़ों नर-नारियों को जीवनमय करनेवाली पहले-पहल सिद्ध हुई। यहाँ जैसे ही हम राजनीतिक क्षेत्र में आगे बढ़े, छोटे-छोटे गिरोहों और हमारी विशाल जन-राशि के बीच का पुराना संघर्ष ज्यादा साफ मालूम पड़ा। यह संघर्ष हमने पैदा नहीं किया। इसकी ओर बिना खयाल किये हम आगे बढ़े और इससे हमारे बल और प्रभाव में तरक्की हुई।

धीरे-धीरे हमारे राजनीतिक आकाश में नये मामलों के नये रंगों का आविर्भाव हुआ। गाँधीजी ने किसानों के निस्बत आवाज उठाई। उनके नेतृत्व में चम्पारन और खैरा में जबरदस्त आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ। यह कोई राजनीतिक चाल नहीं थी, हालाँकि राजनीति का ही कुपरिणाम था, जिससे बचना नामुमकिन था। हमारे आन्दोलन में उन्होंने यह नया उलझन क्यों पैदा किया? जनता की भयंकर दरिद्रता का प्रचार वह क्यों करने लगे? हमारे आन्दोलन की गहराई के केन्द्र को बदलने के लिए यह एक नई चर्चा, हमारे रास्ते का नया मोड़ था। वह इसे अच्छी तरह जानते थे और जानबूझ कर हमारी राजनीतिक समस्या के आर्थिक पहलू के लिए लड़े। क्या इसी वजह से और उनके व्यक्तित्व के कारण ही कांग्रेस के झंडे के नीचे लाखों व्यक्ति नहीं आ जुटे? तब हममें से हर आदमी किसान-किसान चिल्लाने लगे और वह पीड़ित, कुचला हुआ समाज हमारी तरफ कुछ सांत्वना और आशा लेकर मुखातिब हुई।

गाँधीजी हिन्दुस्तान के करोड़ों की दरिद्रता पर जोर देने लगे। सिद्धान्ततः हम यह बात जरूर जानते थे—क्योंकि हमने अपनी आँखों देखा था और दादा भाई, डिग्बी, राणाडे, रमेशदत्त आदि हमारे पहले के नेताओं ने हमें सिखलाया था। फिर भी यह हम पढ़े-लिखे मध्यमवर्ग वालों के लिए किताबों और आँकड़ों की ही चीज थी। गाँधीजी ने इसे एक जीता-जागता पहलू बनाया। हमने पहले-पहल भूख से मरते हुए पीड़ित जन-

समूह का, अपने देश भारत की भयंकर दरिद्रता का, दर्शन किया। इस भूख और बेकारी को दूर करने के लिए ही उन्होंने चरखे और करघे के पुनरुद्धार करने पर जोर दिया। बहुत-से लोग जो अपने को बहुत अक्लमन्द समझते थे इसका मखौल करने लगे। लेकिन चरखा, हालाँकि यह गरीबी की समस्या को बहुत ज्यादा सुलझा न सका, बहुतों के लिए एक बड़ा आधार सिद्ध हुआ। इससे बढ़कर इसके जरिये स्वावलम्बन और सहयोग की भावना जाग्रत हुई, जिसका हममें सब से ज्यादा अभाव था। हमारे राजनीतिक आन्दोलन में चरखे का जबरदस्त हाथ रहा। यहाँ फिर हमने देखा कि हमारे राष्ट्रीय कशमकश मे एक बाहरी चीज, गैर-सेयासी मामले, को महत्व मिल गया।

कुछ सालों के बाद गाँधीजी हरिजन-समस्या पर भी जोर देने लगे। इनकी इस हरकत से सनातनियों के कुछ गिरोह गुस्से में आ गये। यह पुराने रवाजों के प्रतिनिधियों, स्वार्थियों और प्रगतिशील ताकतों के दरम्यान संघर्ष था। फूट के हौआ से डरकर गाँधीजी ने इस अपने बडे अन्दोलन को बन्द नहीं कर दिया। यह सीधा राजनीतिक मामला नहीं था, फिर भी उठाया गया और मुनासिब तौर से उठाया गया।

इस तरह हम देखते हैं कि कांग्रेस के अन्दर और बाहर स्वार्थ-सम्बन्धा संघर्ष हमेशा से ही आगे आते रहे हैं। खाह यह बात सारदा ऐक्ट-जैसी समाज-सुधार-सम्बन्धी हो या बहुत-से गिरोहों से सम्बन्ध रखनेवाली राजनीतिक या मजदूर-किसानों से सरोकार रखनेवाली कोई चर्चा ही, ये स्वार्थों के संघर्ष हमेशा से ही पैदा होते रहे हैं। हमें फूट से सर्वथा बचना चाहिए, पर इसके अस्तित्व की हम अवहेलना कैसे कर सकते हैं? आखिर हम इसके लिए कर ही क्या सकते हैं? सोलह साल तक जोर देकर कहते आये कि हम जनता के लिए हैं। इसके बाद हमें एक ही बात देखनी है और वह यह कि इस संघर्ष से जनता का कहाँ तक नुकसान होता है। इस सवाल का जवाब गाँधीजी ने अपने एक गोलमेज-

कांफ्रेंस (लंडन १६३१) के व्याख्यान में दिया था। उन्होंने कहा था :—

"सब से बढ़कर कांग्रेस उन करोड़ों मूक, भूख से अधमरों, का प्रतिनिधित्व करती है, जो ब्रिटिश भारत या तथाकथित भारतीय भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक सात लाख गाँवों में फैले हुए हैं। हर एक स्वार्थ को, अगर वह कांग्रेस की राय में सुरक्षित रखे जाने के काबिल है, इन गूँगे करोड़ों किसान-मजदूरों के स्वार्थों का सहायक बनना होगा। इसलिए आप बार-बार कुछ स्वार्थों में परस्पर साफ-साफ मुठभेड होते देखते हैं। और अगर कहीं सच्ची, विशुद्ध मुठभेड हुई, तो मैं, बिना किसी हिचकिचाहट के, कांग्रेस की ओर से घोषित करता हूँ कि कांग्रेस इन गूँगे करोड़ों किसानों के हितों की खातिर हर तरह के हितों का बलिदान कर देगी।"

किसानों के साथ हमारे उत्तरोत्तर बढ़ते हुए सरोकार ने हमें उनके सुख-दु:ख के दृष्टिकोण से ज्यादा-से-ज्यादा सोचने को बाध्य किया। बारदोली, संयुक्त-प्रांत और दूसरी-दूसरी जगहों में किसानों के आन्दोलन खड़े हुए। न चाहते हुए भी स्थानीय कांग्रेस कमीटियों को 'स्वार्थों के संघर्ष' की समस्या का मुकाबला करना पड़ा और अपने किसान मेम्बरों को कौन-सी कार्रवाई की जाय, इसका रास्ता भी बताना पड़ा। कुछ सूबों की सूबा-कमिटियों ने ऐसा ही किया।

सन् १६२६ के गर्मी के दिनों में खुद अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी ने अपनी बम्बई वाली बैठक में इस समस्या का हिम्मत के साथ मुकाबला किया और इसके मुतल्लिक मुल्क को एक आदर्श नेतृत्व दिया। बावजूद अपने राष्ट्रीय आधार के रहते और राजनीतिक स्वतंत्रता को महत्व देते हुए भी इसने जोरदार शब्दों में घोषित किया कि हमारे समाज का वर्त्तमान आर्थिक संगठन हमारी गरीबी के मूल-कारणों में से एक है। उसका प्रस्ताव इस तरह का था —

"इस कमिटी की राय में भारतीय जनता की भयंकर गरीबी और दरिद्रता का कारण सिर्फ विदेशियों-द्वारा इसका शोषण नहीं है बल्कि हमारे समाज का आर्थिक संगठन भी है, जिसे कि विदेशी हुकूमत कायम रखे हुए है ताकि यह शोषण जारी रहे। इसलिए इस गरीबी और दरिद्रता को दूर करने, साथ ही भारतीय जनता की दुरवस्था को सुधारने के लिए यह आवश्यक है कि समाज की वर्त्तमान आर्थिक और सामाजिक संगठन में क्रान्तिकारी परिवर्त्तन लाया जाय और घोर विसमता हटायी जाय।"

'क्रान्तिकारी परिवर्त्तन' ये शब्द जब मैंने, थोड़े दिन हुए, लखनऊ शहर में इस्तमाल करने का साहस किया तो कुछ लोगों ने समझा कि कांग्रेस-प्लेटफार्म के लिए ये बिलकुल नये हैं। कांग्रेस के इस दृष्टि-बिन्दु और नीति की आम घोषणा से आगे शायद ही कोई साम्यवादी जा सकता है। इसपर भी यह कहना कि कांग्रेस साम्यवादी हो गई है, कैसी मूर्खता है? इसने भारतीय जनता की गरीबी और दरिद्रता से ज्यादा-से-ज्यादा सम्बन्ध बढ़ाती हुई महसूस किया है कि सिर्फ राजनीतिक तबादला ही काफी नहीं है, कुछ और आगे जाने की जरूरत है। यह 'कुछ और' मौजूदा आर्थिक और सामाजिक संगठन में परिवर्त्तन—क्रान्तिकारी परिवर्त्तन ही—है। यह परिवर्त्तन कैसा होगा, इसने बताया नहीं। और उस वक्त यह स्वाभाविक था। इसलिए हमने इसे अनिश्चित और अस्पष्ट ही रख छोड़ा।

कानून-भंग शुरू हुआ। यह राजनीतिक उद्देश्य से एक राजनीतिक आन्दोलन था। हमने देखा, स्वार्थों का मुठभेड़ फिर सामने आया और बड़े-बड़े जमींदारों और पूँजीपतियों ने आनेवाले राजनीतिक परिवर्त्तन से डरकर अंगरेजी सरकार का साथ दिया। संयुक्त-प्रान्त-जैसे कुछ सूबों में तो किसान-आन्दोलन के समय से स्वार्थों का मुठभेड़ ज्यादा स्पष्ट था।

करॉची में तो हमारा रास्ता आर्थिक परिवर्त्तन की तरफ मुडता हुआ साफ दीख पडा। कांग्रेस इतनी दूर जाने में हिचकिचाती थी, लेकिन वह अपने को रोक नहीं सकी। इसने फिर एलान किया :—

"जनता के शोषण का अन्त करने के लिए राजनीतिक स्वतंत्रता का अंग होगा भूख से मरते हुए करोडों किसान-मजदूरों की सच्ची आर्थिक स्वतंत्रता।" इसने गुजारे की मजदूरी "लिविंग वेज"-जैसी चीजोंकी चर्चा की और एलान किया कि स्टेट (सरकार) बडे-बडे कल-कारखानों, खानों, रेलवे और जहाज, आदि का मालिक खुद होगी या उनका इन्तजाम करेगी। यह एक साम्यवादी प्रस्ताव था, फिर भी यह साम्यवाद से दूर रही।

इस तरह काग्रेस घटनाओं के जोर और असलियत के दबाव से आर्थिक पहलू की तरफ बढने को बाध्य हुई। राजनीतिक आजादी के लिए उत्कट इच्छा रखते हुए भी वह इसे आर्थिक आजादी से जुदा न कर सकी। ये दोनों एक दूसरे से ऐसे बँधे हुए हैं कि अलग नहीं हो सकते। हमने उन्हें अलग-अलग रखने की और राजनीतिक स्वतंत्रता पर ही सारी ताकत लगाने की कोशिश की, लेकिन आर्थिक समस्याओं ने इसमें दखल दिया। स्वार्थों के संघर्ष की तरफ से हमने आँखें बंद कर लीं, फिर भी, राजनीतिक सतह पर भी ये संघर्ष ज्यादा साफ नजर आते गए। गोलमेज-कान्फ्रेंस ने अच्छा नजारा पेश किया। सभी भारतीय पूँजीवादी ब्रिटिश साम्राज्यशाही के पीछे एक पंक्ति में खडे हो गये और भारतीय स्वतंत्रता के लिए खपनेवाली ताकत का एक स्वर मे विरोध करने लगे।

कोई बात ज्यादा दिन तक याद नहीं रहा करती। बहुत-से लोग भारत और काग्रेस का यह आधुनिक इतिहास भूल जाते है। कांग्रेस मे साम्यवाद या समाज की आर्थिक स्थिति में परिवर्त्तन जैसे शब्द कुछ नये नहीं हैं, जो पहले कभी सुने नहीं गये हों। स्वार्थों का संघर्ष भी

कोई नई सूझ नहीं हैं। फिर भी यह एकदम सच है कि कांग्रेस आज साम्यवादी नहीं है। साम्यवादी है या नहीं, इसे जाने दीजिए, पर इतना तो जरूर है और बहुत साफ है, कि पहले से ही यह ऐसी संस्था नहीं है जो आर्थिक बातों की अवहेलना करके सिर्फ राजनीतिक पहलू पर ही सोचे। इन पंक्तियों के लिखते समय किसानों की तकलीफों की जाँच करना और उनके लिए कोई कार्यक्रम निश्चित करना इसके प्रमुख कामों में एक है। इसे इसका, और दूसरी जरूरी समस्याओं का मुकाबिला करना ही होगा। और, ऐसा करने में जब कभी स्वार्थों का मुठभेड सामने आयगा, जैसा कि ये हमेशा आया करते हैं तो जनता के हितों के आगे उन सब का बलिदान किया जायगा।

यह साफ है कि अपने राजनीतिक पहलू—भारत की आजादी पर ही अपनी ताकतों का केन्द्रित करनी चाहिए। यह हमारे लिए मौलिक और प्रधान आवश्यकता है। कोई भी ऐसी हरकत, जिससे इसमें धक्का पहुँचे, अवाञ्छनीय और त्याज्य है। इस बात पर, मैं समझता हूँ, कांग्रेस के हर दल के लोगों का एक मत है। फिर यह साम्यवाद की चर्चा क्यों?

जैसा कि मैं समझता हूँ यह इसलिए नहीं कि कोई साम्यवादी कल्पना करता है कि मुल्क आजाद होने के पहले ही साम्यवाद को जगह मिल जायगी। यह तो स्वराज्य के बाद ही तभी जगह पा सकता है जब कि मुल्क इसके लिए तैयार होगा और बहुमत चाहेगा। पर साम्य-वादी दृष्टिकोण सेयासी कशमकश में मदद पहुँचाता है। यह हमारे सामने की बातों को साफ कर देता है और हमें अनुभव कराता है कि सच्ची राजनीतिक स्वतंत्रता में—सामाजिक जाने दीजिए—क्या-क्या बातें होंगी। 'स्वतंत्रता' की ही कई तरह से व्याख्या की गई है। लेकिन साम्यवादियों के लिए तो इसका एक ही अर्थ है और वह है साम्राज्यशाही से सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद। इसीलिए हमारे राजनीतिक संग्राम के 'साम्राज्यशाही-

विरोधी' पहलू पर जोर दिया जाता है और इससे हमारी बहुतेरी कार्रवाइयों की जाँच की जा सकती है।

इसके अलावा साम्यवादी दृष्टिकोण (जैसा कि पिछले पन्द्रह सालों से कांग्रेस भिन्न-भिन्न रूप में करती आ रही है) जोर देता है कि हमें जनता के लिए खड़ा होना चाहिए और हमारी लड़ाई जनता की होनी चाहिए। आजादी का माने होना चाहिए जनता के शोषण का अन्त।

इससे हम समझ सकते हैं कि किस किस्म के स्वराज्य के लिए हम प्रयत्न कर रहे है। डाक्टर भगवानदास अरसे से आग्रह-पूर्वक कह रहे हैं कि 'स्वराज्य' की परिभाषा हो जानी चाहिए। उनके बहुत-से विचारों से मैं सहमत नहीं हूँ। लेकिन उनके इस कथन से तो सहमत हूँ कि हमें अब 'स्वराज्य' के बारे में अस्पष्ट अर्थ नहीं रखकर किस क़िस्म का 'स्वराज्य' हम चाहते हैं, मोटा-मोटी ही सही, साफ कर देना चाहिए। क्या अंगरेजों के बाद मौजूदा पूँजीपति के ही हाथों में मुल्क का भावी शासन-सूत्र जायगा ? स्पष्टत: यह कांग्रेस की नीति नहीं हो सकती है, क्योंकि हमने अक्सर यह एलान किया है कि हम जनता के शोषण के विरुद्ध हैं। इसलिए हमें बाध्य होकर जनता को शक्तिशाली बनाने का उद्योग करना चाहिए ताकि भारत से साम्राज्यशाही का अन्त होते ही वह सफलता-पूर्वक अपने हाथों में हुकूमत रख सके।

जनता को और उसके जरिये कांग्रेस-संगठन को मजबूत बनाना अपने उद्देश्य के ही लिए जरूरी नहीं है, बल्कि लड़ाई के लिए। सिर्फ जनता ही उस लड़ाई को सच्ची ताकत दे सकती है, सिर्फ वही राजनीतिक लड़ाई को आखिर तक लड़ सकती है।

इस तरह साम्यवादी दृष्टिकोण हमारी मौजूदा लड़ाई में हमे मदद करती है। यह बेकार किताबी बातों की बहस बढ़ाने और उलझनों से भरे हुए सुदूर भविष्य का सवाल नहीं है। बल्कि अपनी नीति को अभी निश्चित कर लेने का प्रश्न है ताकि हम अपने राजनीतिक संग्राम को

अधिक शक्तिशाली और पुर-असर बना सकें। यह साम्यवाद नहीं है। यह साम्राज्यवाद-विरोधी बात है। साम्यवादी दृष्टिकोण से देखा गया राजनीतिक पहलू है।

साम्यवाद इससे और आगे जाता है। इसका ध्येय है पूँजीवाद की लाश पर समाज का नव-निर्माण। यह आज मुमकिन नहीं है। इसलिए कुछ लोगों का इसपर सोचना बेमौके और सिर्फ ज्ञान-वर्धन की बात होगी। लेकिन ऐसा देखना दोष-पूर्ण है। क्योंकि ध्येय का स्पष्टीकरण—भले ही उसका हम निश्चय नहीं करें—और उसपर सोचना आगे बढ़ने में मदद करता है। राजनीतिक स्वतंत्रता हासिल होने के बाद शासन (पावर) किसके हाथों में आयगा ? क्योंकि सामाजिक परिवर्त्तन इसपर निर्भर करेगा। और, अगर हम सामाजिक परिवर्त्तन चाहते हैं तो उन्हींको यह 'पावर' इसे कार्यरूप में लाने के लिए मिलना चाहिए। अगर हमारा उद्देश्य यह नहीं है, तो इसका मतलब होता है हमारा यह संग्राम 'अपरिवर्त्तनवादी' पूँजीपतियों का मार्ग निष्कण्टक बनाने के लिए है।

साम्यवादी तरीका मार्क्सवादी तरीका है। यह भूत और वर्त्तमान के इतिहास के अध्ययन करने का तरीका है। मार्क्स की महत्ता आज कोई अस्वीकार नहीं करेगा। लेकिन बहुत कम आदमी अनुभव करेंगे कि उसने घटनाओं का जैसा सच्चा मतलब लगाया है उससे इतिहास का लम्बा और थकाऊ मार्ग प्रकाशमय हो गया, वह कोई आकस्मिक और चमत्कारपूर्ण नई बात नहीं थी। इसकी जड़ें भूतकाल में ही गहराई तक चली गई थी। यह पुराने ग्रीकों, रोमनों तथा रिनैसेन्स के और उसके आगे के विचारकों को मालूम थी। उन्होंने इतिहास को आन्दोलन के रूप में समझा और समझा विचारों तथा स्वार्थों के संघर्ष के रूप में। मार्क्स ने इस पुराने दर्शन, 'फिलासफी' को विज्ञान का आधार देकर विकसित किया और दुनिया के आगे ऐसे सुन्दर ढंग से रक्खा कि लोग मुग्ध हो गये। हो सकता है, इसमें कोई गलती हो या इधर-इधर कुछ बातों पर

ज्यादा जोर डाला गया हो। इसे तै-शुदा सिद्धान्तों के रूप में नहीं, बल्कि सामाजिक परिवर्तन और इतिहास समझने के एक नये वैज्ञानिक ढंग के रूप में देखना चाहिए। इस व्यर्थ बात को तूल कर कहा जाता है कि मार्क्स ने जीवन के आर्थिक पहलू को ही अधिक महत्त्व दिया है। उसने ऐसा जरूर किया है, क्योंकि यह आवश्यक था और लोग इसे भुला देने की तरफ झुक रहे थे। लेकिन उसने दूसरे पहलुओं की कभी अवहेलना नहीं की है और उन ताकतों पर ज्यादा जोर दिया है, जिनकी वजह से मानव प्राणी में जान आ गई है और घटनाओं को रूप मिला है।

मार्क्स एक ऐसा नाम है, जो इसके बारे मे कम जाननेवालों को भयभीत कर देता है। उनके लिए इस सम्बन्ध में एक बहुत आदरणीय और सम्मानित ब्रिटिश लिबरल ने, जो हरगिज क्रान्तिकारी नहीं हैं, थोड़े दिन पहले जो-कुछ कहा है, वह दिलचस्प हो सकता है। जून, १६३१ में लार्ड लुथियन ने लंडन-स्कूल-आफ-एकनामिक्स के सालाना जलसे के मौके पर अपने भाषण में कहा था —

हमलोग बहुत दिनों से जो-कुछ सोचने को आदी हो गये हैं, क्या उसकी अपेक्षा मौजूदा समाज की बुराइयों का मार्क्स-द्वारा की गई तजवीज में कुछ ज्यादा सचाई नहीं है? मैं मानता हूँ कि मार्क्स और लेनिन की भविष्य-वाणियों अत्यन्त कठोर रूप में सच हो रही हैं। जब हम पश्चिमी दुनिया की तरफ, जैसा कि वह है, और उसकी हमेशा की तकलीफों की ओर निगाह करते हैं, तो क्या यह साफ मालूम नहीं देता कि हमें उसके मूल कारणों को—अब तक हम जिस हद तक जाने के आदी हो गये हैं उससे कहीं अधिक गहराई के साथ—जरूर ढूँढ निकालना चाहिए? और जब हम ऐसा करेंगे, मैं समझता हूँ तो देखेंगे कि मार्क्स की तजबीज बहुत-कुछ सही है।"

ऐसे व्यक्ति का, जो हिन्दुस्तान का वायसराय आसानी से हो सकता है, ऊपर लिखी बातों का स्वीकार कर लेना महत्ता रखता है। अपने वातावरण के प्रचुर दबाव और अपनी श्रेणी की द्वेष-भावना के होते भी उसकी तीव्र बुद्धि मार्क्स की तजवीज की तरफ आकृष्ट हुए बिना रह न सकी। हो सकता है, पिछले पाँच साल में लार्ड लुथियन के विचार बदल गये हों। मैं नहीं कह सकता, १९३१ में उन्होंने जो-कुछ कहा, उसपर किस हद तक वह आज कायम हैं। लेकिन आज मार्क्स का सिद्धान्त कांग्रेस के सामने नहीं है। उसके सामने बात तो यह है कि या तो हम फैली हुई बुराइयों से लड़ें या उनके कारणों को ढूँढ़ निकालें। जो लोग बुराइयों के खुद शिकार हैं, वे ज्यादा कर क्या सकते? "उन्हें याद रखना चाहिए, वे कुपरिणामों से लड़ते हैं, उनके कारणों से नहीं। वे अन्तर्मुखी आन्दोलन को रोकते हैं उसके रुख को बदलते नहीं, वे मर्ज को दबाते हैं, दूर नहीं करते।"

वास्तविक समस्या है—परिणाम या कारण? अगर हम कारण ढूँढ़ना चाहते हैं, जैसा कि हमें जरूर चाहिए, तो साम्यवादी विश्लेषण उनपर प्रकाश डालेगा। और इस तरह साम्यवाद, हालाँकि साम्यवादी शासन—स्टेट—सुदूर भविष्य का एक सपना हो सकता है और हममें से बहुतेरे उसे भोगने के लिए जिन्दा नहीं रह सकते, वर्त्तमान समय में खतरे से बचानेवाला प्रकाश है, जो हमारे पथ को आलोकित करता है।

साम्यवादी ऐसा ही अनुभव करते हैं। लेकिन उन्हें यह जानना जरूरी है कि बहुतेरे दूसरे लोग, मौजूदा संग्राम के उनके साथी, ऐसा नहीं सोचते। उन्हें अपने को ज्यादा अक्लमंद समझकर—जैसा कि कुछ समझते हैं—अपना अलहदा गिरोह नहीं बना लेना चाहिए। वे दूसरे तरीकों से अपना काम निकाल सकते हैं और इससे उनके दूसरे

साथी और बहुत अंशों में समूचा देश उनके तरीके से सोचने को जीते जा सकते हैं। क्योंकि हम भले ही साम्यवाद के बारे में सहमत या असहमत हैं, पर स्वाधीनता के लक्ष्य की ओर तो एक साथ मार्च करते हैं।

आलोचकों से

मैं अपने मित्रों, आलोचकों, समाचार-पत्रों और पत्र-कारों के प्रति बहुत यहसानमन्द हूँ। मैं जो कुछ लिखता या कहता हूँ, उसे वे प्रकाशित कर देने की कृपा करते हैं। खास कर अपने आलोचकों के प्रति, जो मेरी बेशुमार त्रुटियों और दोषों को जतलाकर मुझे सुधारने के लिए इतनी सख्त मिहनत करते हैं। मैं उनकी आलोचना की दूसरों की तारीफ से कहीं ज्यादा इज्जत करता हूँ। लेकिन मुझे अफसोस इस बात का है कि मेरा जीवन कामों में इतना व्यस्त—मेरा इधर से उधर बराबर दौड़ते रहना; मजमों के व्याख्यान, जोश में पागल भीड़ों और मित्रों की खींचातानी, बहस-मयाहसा और दफ्तर के थकाऊ काम, चिट्ठियों के पहाड़ों का मोकाबला और कभी-कभी पागल दुनियों की परेशानी और झंझटों से छुप कर थोड़े वक्त के लिए किसी सुन्दर पुस्तक में लीन होना—इतनी कम फुर्सत देता है कि अपने मित्रों या विरोधियों-द्वारा दयापूर्वक दिये गए उपदेशों से लाभ उठा सकूँ। फिर भी कभी-कभी मैं इन सलाहों और आलोचनाओं की राशि में डुबकियाँ लगाता हूँ और अपने लज्जाशील स्वभाव के रहते भी मुझे अनायास अभिमान होता है कि मेरे मुँह से निकले हुए शब्द भी लोगों में हलचल पैदा कर देते हैं, हाँला कि ऐसा हलचल कभी-कभी गुस्से से भरा होता है।

मेरे इतना अधिक बोलने और उन सब की रिपोर्ट छपने के निस्बत मैं कुछ शिकायत नहीं करता, हालाँकि गलतियाँ बार-बार होती हैं और शब्द-के-शब्द गायब कर दिये जाते हैं, या काल्पनिक बातें जोड़ दी जाती हैं, या मेरी मज़ाक करने की कोशिश समझ नहीं पाते, या उन्हें सख्ती से लेते हैं। मेरा जीवन, जैसा कि वह है, काफी कठोर है ही; और भी भार-स्वरूप हो जाय अगर इसमें कुछ ज्यादा कोमलता का पुट न हो। यह तो बुरा है ही कि मैं इतना ज्यादा बोला करता हूँ, लेकिन उसकी हर गलत रिपोर्टों या गलत अर्थों को दुरुस्त करना तो बहुत मुश्किल है। जो सवाल मुझसे पूछे जाते हैं, अनगिनत और बेहद किस्म के होते हैं—ईश्वर और मजहब से लेकर शादी, चरित्र प्रेम— सेक्स—और पृथ्वी पर खुदा की वे छायाएँ, पूँजीपति और सम्पत्ति-सम्बन्धी। ये सवालात कभी-कभी मेरे बातों या मुल्क की समस्याओं के निस्बत होते हैं। सचमुच यह अजीब बात है कि मेरे आलोचक मेरी कही हुई बातों को छोड़कर कैसे दूसरी-दूसरी बातों के लिए परेशान होते हैं।

फिर भी इन सवालों में मुझे मजा आता है और मैं खुशी से उन्हें लेता अगर जिन्दगी छोटी नहीं होती और हमारे दिन गिने न होते। बदक़िस्मती से हम ऐसी परिस्थिति में पड़े हुए हैं कि अपनी जवानी और प्रौढ़ावस्था राजनीति के रूखे वातावरण, साम्प्रदायिक निर्णय और शहीदगंज की मसजिद के जोश में बिताते हैं। हमें जिन्दगी को, जैसी कि वह है, समझने और उसके यथार्थ मसलों का मुकाबला करने के लिए वक्त ही नहीं बचता—आखिर जीवन की असल समस्या तो मनुष्य के पारस्परिक और सामाजिक सम्बन्ध की है—मर्द का मर्द से, मर्द का औरत से और मनुष्य का समाज से। हमलोग इस पूरी समस्या को तो देख भी नहीं पाते, हो सकता है, उसके कुछ हिस्सों को सुलझा पाते, क्योंकि राजनीतिक और आर्थिक संगठन ने, जिसके घेरे में हम घिरे हैं, हमारी आँखों को अंधा और जिस्म को जकड़ दिया है।

इसलिए इस वक्त उन बहुतेरे सवालों के जवाब देने में अपने को सर्फ न कर मैं सिर्फ प्रश्नकर्त्ता को अपनी 'मेरी कहानी' की तरफ रुजू करके संतोष करूँगा। उन्हें उसमें मनुष्य और चीजों के प्रति मेरी आम प्रतिक्रियाएँ मिलेंगी। फिर भी जब मेरे साथियों के बारे में अस्पष्ट इशारे किये जाते हैं, और उसका विधायक मैं बतलाया जाता हूं, तब मैं एकदम चुप नहीं रह सकता। मैं देखता हूँ कि मेरे और मेरे साथियों के बीच लगातार संघर्ष की बात कही जाती है और कहा जाता है कांग्रेस के अन्दर असाधारण फूट और दूसरी-दूसरी भनायक विस्फोटक घटनाओं के बारे में। बम्बई की महिलाओं की सभा में दिये गये मेरे भाषण के चन्द अलफाज के सम्बन्ध में भी कहा गया है। इन्हें तोड़-मरोड़कर ऐसे माने निकाले गये हैं, जिनका मैंने कभी खयाल भी न किया था। कांग्रेस-कार्य-समिति में मेरी क्या गंभीर स्थिति है, इसके बारे में, मुझे एकीन है, मैं लखनऊ में और उसके बाद साफ-साफ कह चुका हूँ। फिर भी उस विचित्र और कुछ गंभीर स्थिति का मेरे साम्यवादी सिद्धान्त से कोई सरोकार नहीं है। यह तो महज एक सेयासी मतभेद था, जिसका कि लखनऊ में उदय हुआ था। हमलोगों में से किसीने भी इस बात को छिपाया नहीं, क्योंकि हमने महसूस किया कि असाधारण मामलों में हमें कुछ भी छिपाना नहीं चाहिए और जनता से, जिसकी राय हम चाहते हैं और जो भारत के भाग्य का आखिरी फैसला करनेवाली है, सब साफ-साफ कह देना चाहिए। इसलिए हम मतभेद रखने को सहमत हुए और खुलकर मतभेद रखा। लेकिन ऐसा करते हुए भी परस्पर सहयोग करने और साथ-साथ चलने को सहमत हुए। यह सिर्फ भारतीय स्वाधीनता—जो हमें प्यारी है—की खातिर नहीं, बल्कि जितनी बातों में हमारा मतभेद था, उनसे कहीं ज्यादा में हम सहमत थे। अन्तर हमारे दृष्टिकोणों का और अनिवार्य, साथ ही बहुत-सी बातों पर खास जोर देने का था। यह राजनीतिक बातें थीं, साम्यवादी नहीं। हाँ, इतना

जरूर था कि मतभेद पैदा करनेवाली साम्यवादी दृष्टिकोण और कुछ बातों पर जोर देना ही था। लखनऊ के किसी भी प्रस्ताव में ऐसा कुछ नहीं था जिसे हम साम्यवाद-सम्बन्धी कह सकें। साम्यवादियों ने भी महसूस किया कि प्रधान मामला राजनीतिक—आजादी का—था और उसपर उन्होंने जोर लगाया।

साथ-साथ चलने को सहमत होकर, मैं कहता हूँ, मेरे साथियों ने मेरे और मेरी सनक से भरी बातों के साथ बड़े गौर से बर्ताव किया है। इसके लिए मैं उनका बहुत-बहुत अहसानमन्द हूँ। मैं अच्छी तरह महसूस करता हूँ, और मैंने अपने साथियों से एक मरतबा कहा भी था कि मैं हमेशा कमर कसे हुए-सा कहीं भी कूदने और पिल पड़ने को तैयार रहता हूँ, जहाँ ज्यादा अक्लमन्द और अमन-पसन्द लोग अवसर की प्रतीक्षा करते हैं। इतने पर भी उन्होंने मेरी सनकों को बर्दाश्त किया। फूट और उस तरह की और बातों की चर्चा तो मूर्खता है। जब स्वाधीनता की पुकार आती है तो कार्यकर्ताओं में मतभेद हो नहीं सकता और हममें से हर आदमी की रगों में खून नाचने लगता है। हम सहमत हों या नहीं, कभी-कभी एक दूसरे से अलग भी हो जायँ, लेकिन उस पुकार के सुर पर एक साथ मार्च करते हैं। उन सब का, किसी भी विचार के वे क्यों न हों, जो इस सुर को सुनते हैं और उसका उत्तर देते हैं, अपने दल में हम स्वागत करते हैं।

खादी के बारे में कहा गया है कि मैंने हिकारत-भरे विचार प्रगट किये हैं। मैं बहुत बार कह चुका हूँ कि मैं खादी को आर्थिक बुराइयों का अन्तिम हल नहीं समझता और इसी वजह से उस अन्तिम हल के लिए मैं कोई दूसरा दरवाजा खटखटाता हूँ। लेकिन फिर भी मैं यकीन करता हूँ कि आज हम जिस परिस्थिति में पड़े हुए हैं, खादी एक निश्चित मूल्य—राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक—रखता है। इसलिए इसे अवश्य प्रोत्साहन मिलना चाहिए।

सवालों में अधिकांश साम्यवाद के सम्बन्ध में होते हैं और अफ़सोस है कि उनमें सिर्फ अज्ञानता ही नहीं बल्कि ईर्ष्या का धोखा रहता है, जिससे दिमाग अंधकार-पूर्ण हो जाता है। साम्यवाद एक आर्थिक सिद्धान्त है। यह समाज के उत्पादन, वितरण और दूसरे-दूसरे कार्यों को सुसंगठित करने का तरीका है। यह, इसमें विश्वास रखनेवालों की राय में, उन सभी मर्जों का इलाज है जिनमें हमारा समाज आज मुब्तिला है। फिर भी इस आर्थिक नीति पर विचार करते हुए हमपर लगातार ईश्वर और धर्म को उछाला जाता है और रूस राजा चार्ल्स के सिर की तरह हमेशा सामने निकल आता है। मैं उस ईश्वर या उस विचित्र जादू से भरे रहस्यपूर्ण आधुनिक रूस के निस्बत बहस करने को एकदम तैयार हूँ। लेकिन मुझे मूल बात से हटकर बगल का रास्ता लेने में एतराज है। असल सवाल ने जान बूझकर हटने या उसे गड़बड़झाला बना देने के सबब से ही ऐसा हो सकता है। धर्म के सम्बन्ध में मैं मान गया हूँ कि उसकी और उसके मानने की पूरी आजादी अवश्य होनी चाहिए। लोग ईश्वर की हजारों तरीकों में किसी भी तरीके से, जो उन्हें पसन्द हो, पूजा कर सकते हैं। लेकिन अगर मैं चाहूँ तो ईश्वर को नहीं पूजने की उस आजादी का मेरा भी दावा है। और इसका भी दावा है कि जिसको मैं अज्ञानपूर्ण भ्रम और असामाजिक रवाज समझूँ उससे लोगों को अलग करने की मुझे आजादी रहे, लेकिन जब मजहब पूँजीवाद का जामा पहनकर आवे और जनता को चूसे, तब यह मजहब नहीं है और इसका जरूर खात्मा हो जाना चाहिए।

रूस के सामाजिक संगठन में जो मौलिक आर्थिक सिद्धान्त छिपा है, उसमें मैं विश्वास करता हूँ। मैं यह भी समझता हूँ कि रूसने सभ्यता, शिक्षा, और आध्यात्मिकता में भी (अगर मैं इस शब्द का सही अर्थ में प्रयोग करता हूँ) अत्यन्त प्रशंसनीय प्रगति की है। लेकिन बेशक रूस में होनेवाली हर बात को मैं कबूल या पसंद नहीं करता और

इसलिए उसका आँख मूँदकर अनुसरण करना मैं नहीं चाहता। इसी-लिए मैं कम्युनिज्म की अपेक्षा 'सोशलिज्म' शब्द का व्यवहार ज्यादा पसंद करता हूँ क्योंकि मैं जानता हूँ कि इस शब्द से जनता में भ्रम पैदा होगा। इस बात को लेकर उन्हें तैश में नहीं आना चाहिए। मैं कम्युनिज्म शब्द से डरता नहीं हूँ। मैं जैसा हूँ, मेरी सारी हमदर्दी पीड़ित और सब से अधिक शोषित समुदाय के लिए है। जब हुकूमत की पूरी ताकत और पूँजीवाद इसे कुचल देने की कोशिश करेगा, तो मुझे कम्युनिज्म की ओर झुकाने में यह खुद काफी होगा। दूसरों का रास्ता ही अलग है। वे स्वभावतः खुशी से ताकत और पूँजीपतियों के साथ मित्रता करना चाहते हैं। भारत में यह ताकत ब्रिटिश साम्राज्यवाद की है। लेकिन अलफाज और लेबल से गलतफहमी हो सकती है। जो मैं चाहता हूँ वह यह है कि समाज में मुनाफे की नीति का अन्त हो जाय और उसकी जगह सामाजिक सेवा, चढ़ा-ऊपरी के बजाय सहयोग, खपत के स्थान में उत्पादन का भाव हो। क्योंकि मैं हिंसा से घृणा करता हूँ। और इसे एक घृणित व्यापार मानता हूँ। हिंसा पर कायम मुल्क के मौजूदा तरीके को मैं इच्छापूर्वक बर्दाश्त नहीं कर सकता। इसलिए मैं ज्यादा टिकाऊ और शान्तिपूर्ण तरीका, जिससे हिंसा का मूलोच्छेद, घृणा का अन्त और उसकी जगह उदार भावनाओं का आविर्भाव हुआ है, पसन्द करता हूँ। मेरा साम्यवाद यही है।

यह हिन्दुस्तान में कैसे आयगा मैं नहीं कह सकता—बीच की सीढ़ियाँ क्या होंगी, क्या-क्या होंगे इसे जितानेवाले आखिरी खतरे। लेकिन मैं यह जानता हूँ कि बगैर कुछ ऐसी कोशिशों के हम बेकारी के मसलों को हल नहीं कर सकते। अगर दूसरे तरीके हैं तो मेरे आलोचक मुल्क के सामने क्यों नहीं रखते और इसके बजाय मेरी ऐसी बात पर, जो उन्हें भाती नहीं या शायद समझ में ही नहीं आती, गुस्सा करते हैं?

लेकिन साम्यवाद के आने या उसके लिए प्रयत्न करने के भी पहले हमारे भाग्य-निर्माण के लिए ताकत की सख्त जरूरत है, राजनीतिक

स्वाधीनता की आवश्यकता है। हम सब के सामने यही बड़ा और सर्वग्राही मामला है। हम साम्यवाद में विश्वास करें या न करें, अगर हम स्वाधीनता के लिए व्यग्र हैं, तो इसे दुश्मन के हाथों से छीनने के लिए हमें अपनी शक्तियों को सम्मिलित करना चाहिए।

मैं पूर्ण लोकतंत्र, आर्थिक और राजनीतिक, में विश्वास करता हूँ। इस वक्त तो मैं राजनीतिक लोकतंत्र के लिए काम करता हूँ लेकिन मुझे उम्मीद है कि यही बढ़कर सामाजिक लोकतंत्र भी हो जायगा। हमारी समस्या को हल करने के लिए कांग्रेस ने एक मात्र सम्भव लोकतंत्रवाद तरीका रखा है और वह तरीका है 'विधान-निर्मायक सभा' —कन्स्टी-च्युयंट एसेम्बली—का। मेरी समझ में नहीं आता कि कैसे कोई आदमी, जो अपने को लोकतंत्रवादी कहता है, इसका विरोध कर दूसरा रास्ता खोजेगा। लेकिन वे लोग जो भारत के करोड़ों अशिक्षितों की बात करते हैं और बम्बई के घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर करनेवाले हैं, इन अहम मसलों के पेश होने पर एतराज करते हैं, तो वे सम्भवतः अपने को लोकतंत्रवादी कहलाना पसंद नहीं करेंगे।

क्या हम अपनी समस्याओं का लोकतंत्रवादी हल चाहते हैं? मैं अपने आलोचकों से यही सवाल पूछना चाहता हूँ। अगर हाँ, तो यह सब शोर-गुल, भय और गुस्से से भरी बातें क्यों, जब मैं इन समस्याओं को जनता के आगे रखता हूँ और उन्हें इसपर सोचने के लिए कहता हूँ? आकस्मिक मौकों को छोड़कर मैंने शायद ही कभी उनसे साम्यवाद का जिक्र किया है। लेकिन बेशक मैंने जनता की ताअज्जुब में डालने-वाली गरीबी, किसान-मजदूरों और मध्यम वर्गवालों की व्यापक बेकारी और मुट्ठी-भर चोटी के आदमियों को छोड़कर बाकी सभी वर्गों की तबाही पर जोर दिया है। इन चन्द आदमियों की आँखों में मैंने यही पाप किया है। लेकिन जब मैं हिन्दुस्तान का खयाल करता हूँ, तो मेरे सामने यही तस्वीर आ जाती है। लाख कोशिश करके भी मैं इससे पिंड

नहीं हुआ करता। यह सुन्दर तस्वीर नहीं है। मुझे यह अच्छी भी नहीं लगती। लेकिन जैसे ही इसपर मेरी निगाह पड़ती है, कभी-कभी मेरा खून जल आता है और कभी-कभी घृणा से उबाल खाने लगता है कि ऐसी चीजें मौजूद हैं।

ग्रन्थकार का उत्तर

किसी ग्रन्थकर्ता का अपने समालोचकों के साथ बहस में उलझ पड़ना एक भद्दा तरीका है। जो कुछ उसे कहना था, उसने अपनी पुस्तक में कह दिया, अब उनकी बारी है। मेरे लिए अपने आलोचकों की आलोचना करने का साहस करना करीब-करीब अक्षम्य होगा, क्योंकि भारत और विलायत, दोनों जगहों के आलोचकों ने इस पुस्तक के साथ बहुत-बहुत सदिच्छा और उदारता का बर्ताव किया है।

लेकिन मुझे श्रीयुत केलकर और दूसरे-दूसरे मित्रों ने चुनौती दी है और सवालों की एक फिहरिस्त बनाकर मुझसे जवाब तलब किया है। मेरी बिल्कुल इच्छा नहीं है कि श्रीयुत केलकर, जो बहुत दिनों से मेरे आदर के पात्र हैं, या दूसरों के साथ इस मामले में पड़ूँ। लेकिन जब सवाल पूछे जा चुके हैं, तो मैं एकदम खामोश भी नहीं रह सकता।

मेरी 'मेरी कहानी' क्या है? वह पिछले कुछ सालों की सभी प्रमुख घटनाओं का कोई रेकर्ड नहीं है। वह तो मेरे अपने विचारों और मेरी मानसिक अवस्थाओं का और उनपर बाहरी वाकयात के क्या असर पड़े

हैं उनका रेकर्ड है। मैंने इसे अपने मानसिक विकास का एक सच्चा दर्पण बनाने का यत्न किया है। इसमें मुझे किस हद तक कामयाबी हासिल हुई है, यह मेरे कहने की चीज नहीं है। क्या-क्या वाकयात हुए, इनमें कुछ सिफत नहीं है, बल्कि सिफत इसमें है कि वे मुझे कैसे मालूम हुए और मेरे दिमाग पर उनका क्या असर पड़ा। पुस्तक की सचाई की सही कसौटी यही है, दूसरी कुछ नहीं।

बेशक, अगर घटनाओं का मुझपर पड़ा हुआ असर असलियत से कहीं दूर हो तो मैं जो कुछ दलीलें पेश कर सकता हूँ वह उनकी जड़ को ही कमजोर बना देगी और मेरे अपने दिमाग और खयालात की बुनियाद ही झुठाई पर होगी। मैं असलियत से हटकर अपने को सम्भवतः बर्बाद कर दूँगा। इस तरह पुस्तक में लिखी गयी घटनाओं की सचाई या झुठाई जरूरी चीज है।

लेकिन तो भी मैं कहने की हिम्मत करता हूँ कि पुस्तक की पहली कसौटी मनोवैज्ञानिक है। यह जानकर मुझे कुछ कम प्रसन्नता नहीं हुई कि बहुत-से आलोचकों ने इसी आधार पर अपना काम शुरू किया है और कुछ अंग्रेज मित्रों ने भी, जो मेरे सेयासी खयालात के एकदम विरोधी हैं, हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन की अन्तरात्मा का एक खास मनोवैज्ञानिक ज्ञान पाया है। क्योंकि, हालाँकि मैंने एक व्यक्ति की तरह एक व्यक्ति के बारे में लिखा है, फिर भी मेरा यह दावा हो सकता है कि मैंने आजादी के आन्दोलन में एक बड़ी तादाद मे दूसरे-दूसरे काम करने-वालों के भी मानसिक संघर्षों का प्रतिनिधित्व किया है। मित्रों और विरोधियों के दरम्यान इसी मनोवैज्ञानिक इल्म से सच्चा समझौता हो सकता है। विरोधियों के लिए तो यह इल्म असम्भव नहीं तो भयानक रूप में कठिन है।

इसलिए मेरी प्रार्थना है कि मेरी पुस्तक पर मुख्यतः इसी पहलू से विचार किया जाय, दूसरे-दूसरे तो गौण हैं।

मेरी दूसरी प्रार्थना है कि हमलोग समूचे जंगल को पूरा-पूरा लें, दरख्तों में अपने को भुला न दें। भारत-जैसे एक बड़े मुल्क और एक जबरदस्त राष्ट्रीय आन्दोलन में तरह-तरह के खयालात पैदा होते हैं और एक दूसरे पर प्रभुत्व जमाने के लिए आपस में भिड़ते हैं। ये खयालात ज्यादा महत्त्व रखते हैं और अपने इजहार करनेवाले व्यक्तियों और नेताओं से अलहदा चीज हैं। इसलिए जहाँ तक मुमकिन हो हमें इनपर खयालात के रूप में ही गौर करना चाहिए, व्यक्तियों से, जिन्हें हम पसंद या नापसंद कर सकते हैं, सम्बन्ध रखनेवाली वस्तु के रूप में नहीं। इस प्रकार हमारे राजनीतिक आन्दोलन में पिछले चन्द सालों के दरम्यान कांग्रेस का एक खास आदर्श है। रेसपांसिविस्टों का और दूसरे-दूसरे का आदर्श भी रहा है। आज आर्थिक और सामाजिक मामलों ने सब से ज्यादा जोर पकड़ लिया है और दूसरे-दूसरे खयालात लोगों के दिमाग में संघर्ष और तहलके मचा रखे हैं।

इन किस्म-किस्म के और रंग-विरंग के विचारों पर गौर करके, व्यक्तियों का बिना ख्याल किये हम कह सकते हैं, कि अमुक-विशेष प्रगतिशील और अमुक हानिकर है; यह आजादी की तरफ और वह प्रतिक्रिया की तरफ ले जानेवाला है। मेरा ख्याल है कि माडरेटों और रेसपांसिविस्टों के आदर्श निश्चित रूप से प्रतिक्रियागामी और हानिकर हैं और वे स्पष्टतः ब्रिटिश साम्राज्यवाद से सहयोग पैदा करते हैं। इस प्रकार वे स्वाधीनता-मार्ग पर हमें अग्रसर करने के बजाय ब्रिटिश साम्राज्यशाही को मजबूत बनाते हैं। इन विचारों के रखनेवाले व्यक्तियों से मेरा कुछ कहना नहीं है। व्यक्तिगत रूप में मैं उनकी इज्जत कर सकता हूँ; उनके लिए मेरे हृदय में प्रेम है और उनके चरित्र और साहस की तारीफ करता हूँ। लेकिन फिर भी मेरा यह ख्याल है कि वे सेयासी तौर पर गलती कर रहे हैं और गलत रहनुमाई दे रहे हैं। मैं समझता हूँ, कांग्रेस ज्यादा सीधा और निश्चित रूप में साम्राज्य-वाद-विरोधी नेतृत्व कर रहा है। हालाँ कि यह कुछ मामलों में कभी-कभी प्रतिक्रियावादी बन गई है।

फिर भी मेरा विश्वास है इसने हमें स्वाधीनता की ओर बढ़ाया है। ऐसा विश्वास करके मैंने इसे अपना सहयोग दिया है और इसके लिए अपनी योग्यतानुसार काम किया है।

अगर ये मेरे निश्चित विचार हैं, तो क्या मुझे इनका इजहार नहीं करना चाहिये इस बात से डर कर कि कुछ लोगों के विचारों की आलोचना करके मैं उनके दिल को दुखाऊँगा? यह तो एक व्यर्थ और लड़कपन की नीति होगी और एक सार्वजनिक व्यक्ति के लिए बड़ा भद्दा होगा। हम पब्लिक कामों में गर्क रहनेवाले, जो करोड़ो के भाग्य को बदलना चाहते हैं, इन अहम मामलों में खामोशी अख्तियार करने की हिम्मत नहीं करते। सार्वजनिक नीति की आजादी के साथ आलोचना करने का मेरा दावा है और जो मेरे विचारों के विरुद्ध हैं उनके इस हक को भी मैं खुशी के साथ मानता हूँ। सिर्फ इसी तरीके से हम सत्य की झलक पा सकते हैं और सच्ची नीति का निर्माण कर सकते हैं। लेकिन बेशक ऐसी आलोचनायें बिना ईर्ष्या और बुरी भावना के होनी चाहिए।

इसी दृष्टि-बिन्दु से मैंने 'मेरी कहानी' लिखी है। हो सकता है, अपने लक्ष्य के मोताबिक पूरा-पूरा निबाह न सका होऊँ, लेकिन यह पुस्तक मुल्क के सामने रखे गये आदर्श और नीतियों के बारे में मेरे निश्चित विचारों का अवश्य प्रतिबिम्ब है। यत्र-तत्र छोटी-मोटी भूलें रह गई हों, लेकिन इसका असर मुख्य दलील पर नहीं पड़ता। अखबारों में कुछ इस आशय की खबरें निकली हैं कि मैं अपनी पुस्तक और उसकी गलतियों के लिए माफी माँग रहा हूँ। लेकिन ऐसी कुछ बात नहीं है और इसके अन्दर की किसी बड़ी त्रुटि का मुझे अब तक कोई ज्ञान नहीं है।

मुझसे कहा जाता है कि रेस्पांसिविष्ट पार्टी के मेम्बर कांग्रेस के आजादीवाले उद्देश्य पर हस्ताक्षर करते हैं। व्यक्तिगत रूप में मैं इसका स्वागत करता हूँ। लेकिन मैं यह मानने को तैयार नहीं हूँ कि उनका

इतना कर देना काफी सबूत है कि साधारणतः वे और दूसरे-दूसरे कांग्रेस से सम्बन्ध रखनेवाले लोग आजादी के आदर्श को, जैसा कि मैं समझता हूँ, कबूल करते हैं। यह सब को विदित है कि कुछ कांग्रेसवाले ऐसे भी हैं, जो आजादी को जीवन-मरण की समस्या नहीं समझते और लगातार इसे मुलायम करते रहने की कोशिश करते हैं। असल जाँच तो कामों से—रोजमर्रः के कारनामों से होती है।

मैं नहीं कह सकता, स्वाधीनता का मेरा आदर्श काग्रेस को किस हद तक ढँकता है। लेकिन मैं जानता हूँ कि कांग्रेस के कार्यकर्त्ताओं में इसका बहुत जोर है। लिबरलों और रेस्पासिविष्टों का पूरा सम्प्रदाय राजनीतिक स्वाधीनता के जिस भाव का इजहार करता है, उससे यह अवश्य अलहदा चीज है। लिबरल और रेस्पांसिविष्टों के भारतीय आजादी के यह मानी, यद्यपि भारत पर ब्रिटिश प्रभुत्व के विरोधी हैं, मुझे ब्रिटिश साम्राज्यशाही के दायरे के अन्दर प्रवेश करते मालूम होते हैं। इसलिए वे इसे नापसन्द करते हुए और इससे पिण्ड छुड़ाने की इच्छा रखते हुए भी असल में इसे मदद करते हैं, और मजबूत बनाते हैं। वे इसके साथ अक्सर सहयोग करते हैं और अपनी हार्दिक सहानुभूति दिखलाते हैं, जो हमारे स्वाधीनता-आन्दोलन के लिए हानिकर हैं। उनमें से बहुत भारत में ब्रिटिश फौज के कायम रहने पर जोर देते हैं। यह सारा विचार ही मेरी भावना के प्रतिकूल है। औपनिवेशिक स्वराज्य का पूरा विचार मुझे ब्रिटिश साम्राज्य-शाही के मूल-तत्त्व को स्वीकार कर लेना मालूम होता है। इसलिए यह विचार मेरे लिए अग्राह्य है। यह साफ है कि साम्राज्यवाद के सम्बन्ध में यह क्या है और कितना आगे बढ़ना चाहता है, हमारे विचार मूलतः परस्पर विरोधी हैं। इसलिए इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि दो विभिन्न कारणों से हम दो विभिन्न परिणाम निकालते हैं।

भूतकाल में लिबरलों और रेसांसिविष्टों ने ब्रिटिश सरकार के अन्दर ऊँचे ओहदे, कार्यकारिणी की मेम्बरी और मिनिस्टरी आदि स्वीकार की

थी। इसके पीछे जो कुछ भी भावना रही हो, लेकिन मेरे मन में कोई शक नहीं है कि इसका साफ नतीजा साम्राज्यवाद को पूरा सहयोग और सहारा देना हुआ है। इसके मानी हैं स्वाधीनता के आन्दोलन को कुचलने में सहयोग। हमने भूतकाल में ऐसा खूब देखा है। श्रीयुत केलकर ने, अगर मुझे ठीक-ठीक याद है, एक बार अपनी पार्टी के एक मेम्बर को कार्यकारिणी के मेम्बर हो जाने के उपलक्ष में बधाई दी थी। अगर नये कानून के अन्दर कांग्रेस ने मंत्रित्व ग्रहण करना कबूल किया, तो मुझे पूरा यकीन है कि उस हद तक वह ब्रिटिश साम्राज्यशाही के साथ सहयोग और उसे मजबूत करेगी। और तब वह कुछ अंश में नागरिक स्वाधीनता के दमन में भी, जो पीछे होगी, जवाबदेह होगा।

दमन और नागरिक स्वाधीनताओं के अपहरण का निन्दा [1] लिबरलों और रेस्पासिविस्टों ने बार-बार की है। फिर भी मुझे ऐसा मालूम हुआ है कि यह निन्दा उनकी तादाद की थी उनकी मूल-बुराइयों की नहीं। इसलिए सरकार का यह दृष्टिकोण कि दमन की आवश्यकता लोग ज्यादातर स्वीकार कर रहे हैं, स्वभाविक था। मुझे याद है कि श्रीकेलकर ने कांग्रेस कार्यकारिणी के सदस्यों को जेल से रिहा करदेने के लिए सरकार पर जोर डाला था। उनने दलील यह पेश की थी कि परिस्थिति काफी सुधर गई है और अगर कहीं ऐसी घटना हुई और उनका व्यवहार बुरा हुआ, तो वे फिर जेल वापस भेज दिये जा सकते हैं। इस दलील ने मेरे सोचने की तर्ज को चोट पहुँचाई, क्योंकि मुझे ऐसा मालूम हुआ कि यह सरकार की आम नीति और उसकी पिछली हरकतों को मुनासिब करार देना है।

फिर आप सर शिव स्वामी ऐयर और सर तेजबहादुर सप्रू के जवाबों को लीजिए, जो उन्होंने मेरी नागरिक स्वाधीनता के सम्बन्ध में भेजी गई गश्ती-चिट्ठी के दिये थे। उस प्रस्तावित संस्था में शामिल होना उन्होंने मंजूर नहीं किया, इसकी मुझे शिकायत नहीं है। दूसरों ने भी बिला कुछ खास वजह बतलाये ऐसा ही किया है। ये वजहें बड़े काम की और

विशेषता रखनेवाली हैं। और, हमारे सोचने के इस तरीके को सही बताती हैं कि ये ब्रिटिश सरकार के दृष्टिकोण को नागरिक स्वाधीनता के अपहरण के बारे में कबूल करते हैं, हालांकि ये बेशक समझते हैं कि सरकार को जितना करना चाहिए उससे उसने ज्यादा किया है।

यह सब मुझे साम्राज्यवाद के आदर्श को स्वीकार करना और दमन-नीति का मौखिक समर्थन करना मालूम देता है। दूसरे तरह की अनगनित कार्रवाइयाँ—राजनीतिक, अर्द्ध-राजनीतिक, सामाजिक—ऐसे वक्त में, जब कि सारे देश में भयंकर दमन-चक्र चल रहा था, इस मौखिक समर्थन की पूरक थीं। ऐसे व्यक्तियों का, जो मुल्क की तकलीफों, आर्डिनेन्स के अपमानों और दमन को अच्छी तरह महसूस करते थे, दमन करनेवालों के साथ लगातार हब-गब करना, उनके साथ भोज में शामिल होना या उन्हें भोज देना कभी उचित नहीं था। यह कानून-शिकनी के साथ हमदर्दी की बात नहीं थी, बल्कि बात थी सरकार के साथ हम-दर्द नहीं होने की, जो भारत की आत्मा को कुचल देने की कोशिश कर रही थी। यह तो मामूली 'डिसेंसी' का सवाल था।

यह मेरे विचार का साधारण आधार है और मैं चाहता हूं कि श्रीयुत केलकर इसे समझें, हालाँकि वह मुझसे बहुत असहमत होंगे। और अगर कहीं उस विचार में कुछ भी सार है, तो उससे यही नतीजे निकलेंगे। अगर यों ही हम एक दूसरे पर कीचड़ उछालें और एक दूसरे के उद्देश्य में शक किया करें तो कभी मामले साफ नहीं होंगे।

मैं अपनी इस धारणा की पुष्टि में कि रेस्पांसिविस्ट पार्टी के प्रधान मेम्बरों और लिबरलों के दृष्टि-कोण साम्राज्य-विरोधी नहीं हैं, उनके व्याख्यानों और लेखों के अनेक उद्धरण पेश कर सकता हूँ। लेकिन यह लेख काफी बड़ा हो चुका है। फिर भी मैं एक दो मिसाल दूँगा।

श्रीयुत एम आर. जैकर ने (मैं समझता हूं १६३५ के सितम्बर के आरम्भ में 'टाइम्स आफ इण्डिया' के प्रतिनिधि से बात-चीत में) अपने देशवासियों से अपील की थी कि नये विधान को, गवर्नर के साथ सुलह

के रूप में, काम में लाओ। उसका (गवर्नर का) किसी तरह से विरोध न करो ताकि उसे अपने विशेपाधिकारों के प्रयोग करने से रोक सको। अगर यह तथाकथित सुधारों का, और पीछे सम्पूर्ण साम्राज्यवादी तरीके का स्वीकार करना नहीं, तो और क्या है ? मैं 'सर्वेंट आफ इंडिया' द्वारा की गई श्रीयुत जयकर की घोषणा की आलोचना (सितम्बर ६, १६२५) से ज्यादा अच्छी आलोचना नहीं कर सकता।

डाक्टर मुंजे ब्रिटिश साम्राज्य से सहयोग के लिए बार-बार अपील कर चुके हैं, जिसके लिए उन्हें 'स्टेट्समैन' के बधाई का पात्र बनने का सौभाग्य प्राप्त हो चुका है। उनके फौजी विद्यालय को कमाण्डर-इन-चीफ का आशीर्वाद भी मिल गया है और लार्ड विलिंगडन के ऐसी आशा प्रगट करने की रिपोर्ट भी निकल गई है कि यह स्कूल ब्रिटिश साम्राज्य की तहेदिल से सेवा करेगा। व्यक्तिगत रूप में मुझे न तो ब्रिटिश साम्राज्य की सेवा करने का कोई शौक है और न इसकी लालसा रखनेवालों के साथ मेरी हमदर्दी ही है। लेकिन जो-कुछ भी हो, जो ब्रिटिश साम्राज्य को मजबूत बनाना और उसकी सेवा करना चाहते हैं, उन्हें कोई भी साम्राज्य-विरोधी नहीं कहेगा।

किसानों का कर्ज

लायलपुर कांग्रेस कमेटी के मंत्री को लिखा गया पत्र

"मुझे अभी आपका पत्र मिला। आपके प्रस्तावानुसार २१ तारीख के पहले वक्तव्य का निकलना मेरे लिए नामुमकिन था। पत्रों में प्रकाशित होनेवाली भ्रमात्मक बातों का खंडन करना मेरे लिए मुश्किल हो रहा है।

"किसानों के सम्बन्ध में समझने की मुख्य बात यह है कि यह बोझ सारे भारत में बहुत बढ़ गया है और इसको काफी कम कर देने के लिए उपाय नहीं किया जायगा तो कर्ज लेने और देने वाले, दोनों को नुकसानी होगी। यह बोझ ऐसा है जिसे उठाने में ज्यादातर लोग असमर्थ हो रहे हैं। यह बोझ कई कारणों से बढ़ा है और इनमें से बहुत-से कारण ऐसे हैं जो किसानों के काबू के बिल्कुल बाहर हैं। नमूने के लिए अनाज की दर का गिरना और सरकार की मुद्रा-नीति। यह बहुत बड़ी समस्या हो गई है, जिसका सिर्फ किसानों के ही नहीं, व्यापार और उद्योग-धन्धों और आगे चलकर कर्ज देनेवालों के भी फायदे की नजर से जल्द हल होना बहुत

जरूरी है। अगर कोई कर्ज चुकाने में बिलकुल ही असमर्थ हो तो उसे उसके लिए मजबूर करना मुमकिन नहीं।

"यह समूचे हिन्दुस्तान की समस्या है। मैंने इसका बहुत ध्यान से अध्ययन नहीं किया है और पंजाब की विशेष स्थिति से मैं खासकर अनभिज्ञ हूँ। इसलिए इस वक्त मेरे लिए मुमकिन नहीं है कि मैं इस समस्या को हल करने की कोई विस्तृत योजना बताऊँ। पर मैं यह मान लेता हूँ कि पंजाब में कर्ज की समस्या मूलतः वैसी ही है जैसी बाकी मुल्क की।

"मौजूदा हालत में यह कहना असंगत होगा कि कर्ज का बोझ उसी तरह बना रहे। कारण, यह मुमकिन नहीं है। पर इस बोझ को घटाने का जो उपाय किया जाय वह ऐसा हो कि दोनों पक्षों को यथासम्भव कम हानि हो। मेरे विचार में इसकी जरूरत होगी कि इस समय की तनातनी को घटाने के लिए एक तरह की मुहलत दी जाय जिससे इस समस्या के मुतल्लिक विचार करने और नई व्यवस्था बनाने के लिए समय मिले। ऐसे बोर्ड कायम किये जायँ, जिन्हें मन्दी और कर्जदार की ताकत को देखते हुए कर्ज की रकम और सूद की दर घटाने का हक हो।

"सब से गरीब लोगों का बोझा हलका करने की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया जाय। अगर ऐसी कोई कार्रवाई की जाय तो इस समस्या पर पूरे तौर पर विचार किया जायगा और किसी भी एक पक्ष के साथ अन्याय होना टाला जा सकेगा। यह समस्या इस बात से और भी उलझ गई है कि पुराने और आजकल के महाजन देश की लेन-देन की प्रणाली के मुख्य अंग रहे हैं। इस प्रणाली को तब तक बिल्कुल ही नष्ट कर देना वाछनीय नहीं है जब तक किसानों को कम दर पर कर्ज देने का कोई इन्तजाम न हो जाय।

"मैंने ये बातें मामूली तौर पर सब प्रान्तों के लिए कही हैं। साथ ही, प्रान्त-विशेष की हालत देखते हुए उनपर लागू की जानी चाहिए, जिससे हम नया इन्तजाम करने और वाजिब तरीके से लोगों के कर्ज का बोझ हलका करने में समर्थ हो सकें।"

अन्तर्राष्ट्रीय

फिलस्तीन

सितम्बर '३६ में फिलस्तीन-दिवस के अवसर पर इलाहाबाद की सार्वजनिक सभा में दिये गये भाषण का सार

आज राजनीतिक भारत में आनेवाले चुनावों की ही चर्चा है। हर जगह इन चुनावों के उम्मीदवार पैदा हो रहे हैं। जैसे-जैसे दिन बीतते हैं, सम्भवत. हम इन चुनावों की ही ज्यादा-से-ज्यादा चर्चा सुनेंगे। इनके बाद जो हमेशा से गुस्से के भाव पैदा हो जाया करते हैं, उन्हीं की आवाज़ों से आकाश गूँज उठेगा। दूसरे-दूसरे सवालात भी जैसे, साम्प्रदायिक समस्या या हिन्दी-उर्दू के सम्बन्ध में छोटी-छोटी बातें हमारे दिमाग पर कब्जा करते हैं। लेकिन फिर भी गरीबी और बेकारी के जबरदस्त मसलों के आगे ये सब कितनी छोटी बातें हैं! गरीबी, जो हमारी करोड़ों जनता को कुचल रही है; बेकारी, जिसने हमारा गला ही घोंट डाला है। बेशक हमें इन मसलों पर जरूर गौर करना चाहिए; क्योंकि आखिर हमारे विचार और कार्य का क्षेत्र भारत ही तो है।

लेकिन सिर्फ भारतीय समस्याओं में ही अपने को लगाये रखना अच्छा नहीं है। यह हमारे राष्ट्रीय उद्देश्य और हमारी आजादी की जङ्ग के लिए भी काफी नहीं है। सार्वजनिक जीवन-यापन करनेवाला प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि भिन्न-भिन्न देशों के सेयासी और आर्थिक मामले एक दूसरे से सरोकार रखते हैं। आज दुनिया को जिस तरह एक साथ मिल जाना पड़ा है, वैसी वह पहले कभी भी नहीं थी। इसलिए जिन बड़ी समस्याओं का हमें मुकाबला करना है, वे अवश्य ही दुनिया की समस्याएँ हैं। किसी अहम मसले के अन्तर्राष्ट्रीय पहलू की अवहेलना करना अदूरदर्शिता और भूल को आमंत्रित करना है।

इसलिए आज हमें दुनिया को उसके तमाम संघर्षों, कशमकश, अत्याचारों, तकलीफों और सब के पीछे उसके विशाल प्रश्नों के साथ देखना चाहिए। आज हम खास कर उस छोटे मुल्क फिलस्तीन और उसकी मुसीबतों पर गौर करने के लिए इकट्ठा हुए हैं। दुनिया की नजर में फिलस्तीन की समस्या अपेक्षाकृत कम महत्त्व रखती है, क्योंकि बड़ी-बड़ी बातें दूसरी जगहों में हो रही हैं। लेकिन फिर भी यह अपना एक अलग महत्त्व रखती है और साम्राज्यवाद के कारनामों पर, जिनकी बदौलत हम खुद तबाह हैं, प्रकाश डालती है। इसलिए इसपर गौर करना मुनासिब ही है और हमें वहाँ आजादी के लिए जंग करनेवालों के पास बधाई भेजनी चाहिए।

लेकिन फिलस्तीन पर विचार करने के पहले मैं आपको थोड़ी देर के लिए स्पेन में ले जाना चाहता हूँ, क्योंकि उससे हमें दुनिया के रङ्ग-मञ्च की झलक कुछ ज्यादा साफ मिलेगी। आज स्पेन ही वह स्थान है, जहाँ सब से अधिक महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हो रही हैं, और हो रही हैं भावी यूरप या दुनिया में असाधारण परिणाम लानेवाली, भयङ्कर हड़कम्प पैदा करने वाली घटनाएँ। हम जितना महसूस करते हैं, उससे ज्यादा हमारा भाग्य उसके साथ बँधा हुआ है।

स्पेन में क्या हुआ है ? कुछ महीने पहले वहाँ साधारण लोकतन्त्रवादी चुनाव हुए थे। परिणाम-स्वरूप जनपक्ष के एक क्रांतिकारी दल—सम्मिलित जन-शक्ति—का प्रभुत्व हुआ। उन्होंने एक उदार-लोकतंत्रवादी किस्म की सरकार कायम की। वह कोई कम्युनिष्ट या साम्यवादी सरकार भी नहीं थी। इसमें एक भी कम्युनिष्ट या साम्यवादी नहीं थे। उन्होंने एक लिबरल सुधार के प्रोग्राम के साथ काम शुरू किया ताकि वे स्पेन को सामंतों और प्रतिक्रियावादियों के पंजों से, जिनमें यह इतने दिनों तक छटपटाता रहा, छुड़ा सकें। उन्होंने अच्छी तरक्की की। लेकिन एकाएक फौजी सरदारों और दूसरे-दूसरे प्रतिक्रियावादियों के नेतृत्व में फौजी बगावत उठ खड़ी हुई। और यह बगावत पहले स्पेन में नहीं, बल्कि मोरक्को में गैर-स्पेनिश जत्थों की मदद से शुरू हुई। यह बगावत कानून और अमन—ब्रिटिश सरकार के प्यारे शब्दों में—के विरुद्ध, मुल्क की बाकायदा सरकार, एक साधारण लिबरल हुकूमत के विरुद्ध थी। इन फौजी हथकंडों ने बगावत का झंडा उठाने की कैसे हिम्मत की, यह अब साफ हो गया है। उन्होंने जर्मनी और इटली के फेसिस्ट मुल्कों की ठोस मदद से ऐसा किया और यह मजेदार बात है कि लंडन शहर के बड़े-बड़े पूँजीपतियों ने उन्हें मदद दी।

स्पेन की सरकार और जनता चौंक उठी। असंगठित और बिना मौनासिब तौर से हथियारों से लैस जनता के लिए संगठित और हथियारों से काफी सुसज्जित विद्रोहियों का सामना करना भयानक रूप में मुश्किल था। और यही वजह है कि बागियों ने आसानी से जीतने की उम्मीद की थी। लेकिन स्पेन की जनता अपनी सरकार के हुक्म पर उठ खड़ी हुई और बगैर डिसिप्लिन और जरूरी हथियारों के बागी फौजों का, जिनमें ज्यादा मोरक्कन जत्थे थे, दिलेरी के साथ सामना किया। वे सब-के-सब आ जुटे। लड़के और लड़कियाँ भी अपनी मुश्किल से मिली हुई आजादी की रक्षा के लिए मैदान में दौड़ पड़े। हमने एक अजीब

दृश्य देखा—ये जनसाधारण बाकायदा फौज से लड़ रहे हैं और उन्हें अक्सर रोक रखते हैं।

दूसरे मुल्कों में इसकी प्रतिक्रिया बड़े मार्के की हुई। नाजी-जर्मनी और फेसिस्ट-इटली एकदम बागियों की तरफ थी, और उन्हें हर तरह की मदद की। फ्रांस स्पेन की सरकार से हमदर्द तो था, पर उसने मदद करने की हिम्मत न की। इंगलैंड में 'टाइम्स'-जैसे बड़े-बड़े अखबारों ने बागियों के साथ साफ-साफ सहानुभूति दिखलाई और इस तरह उन्होंने ब्रिटिश सरकार और वहाँ की हुकूमत करनेवाली जमातों के रुख का प्रत्यक्ष पता बतला दिया। बागियों की फतेह पर विलायत के पूँजीपतियों ने अपनी खुशियों का इजहार किया। यूरप की सरकारों ने किनाराकशी की नीति बनाई जिसके असली मानी हुए बाहरी मदद स्पेन की सरकार को न मिल सकी, लेकिन बागियों ने पाई।

इस तरह स्पेन में यह भयानक खींचातानी जारी है। बागियों के पक्ष में हर तरह की सुविधायें हैं। लेकिन फिर भी साधारण जनता, स्त्री-पुरुष, लड़के-लड़कियाँ, अपने झंडे को झुकने नहीं देते। वे अपने देश को हिंसक और प्रतिक्रियावादी अत्याचारों से बचाने के लिए हजारों की संख्या में जान दे रहे हैं।

आज हम स्पेन में प्रगतिशील और प्रतिक्रियावादी शक्तियों के बीच भयंकर संघर्ष—संघर्ष जो तमाम दुनिया में मचा हुआ है—साफ-साफ देख रहे है। यूरप और सारे संसार में फेसिज्म का दौरदौरा हो जायगा या नहीं, संघर्ष के इसी पहलू पर निर्भर करता है। और इसी पहलू पर निर्भर करता है तमाम दुनिया में भयंकर खूँरेजियाँ—विश्व-युद्ध। बागियों की फतेह के मानी होते हैं फ्रांस पर उसके तीन फेसिस्ट पड़ोसी मुल्कों का धावा। इसके मानी होते हैं जापानी फेसिज्म के सहयोग से फेसिज्म का विश्व-विजय के लिए प्रयत्न।

इस मामले में हम देखते हैं कि विलायत की हुकूमत करनेवाली जमातें और वहाँ की सरकार निश्चित रूप से फेसिज्म का पक्ष ले रही हैं। साम्राज्यशाही ब्रिटेन, जो लोकतंत्र का दम भरती थी, स्पेन के लोकतंत्र को कुचलने की कोशिश करनेवालों का हमदर्द हो रही है। क्योंकि, याद रहे कि स्पेन की यह लड़ाई कम्युनिज्म या सोशलिज्म और फेसिज्म के बीच नहीं, बल्कि लोकतंत्र और हिंसक फौजी फेसिज्म के बीच है।

दर-असल यह ताज्जुब की बात नहीं है। फेसिज्म और साम्राज्य-वाद तो अनिवार्यतः एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं। अगर कोई खतरा आता है तो दोनों आ मिलते हैं। आज तमाम दुनिया में वे प्रगतिशील शक्तियों की मुखालफत कर रहे हैं—यूरप में सामाजिक प्रगति की और हिन्दुस्तान और उसके जैसे दुसरे-दूसरे पराधीन मुल्कों में राजनीतिक प्रगति की भी। साम्राज्यवादी और फेसिष्ट ताकतों के बीच मौरूसी संघर्ष भी चला आता है। क्योंकि उनसे बहुतेरे अपने शिकार—शोषित मुल्कों के बँटवारे में बड़े हिस्से का दावा रखते हैं। लेकिन इस पारस्परिक संघर्ष के होते हुए भी सामाजिक स्वाधीनता की माँगों और राजनीतिक आजादी की राष्ट्रीय लड़ाइयों के विरोध में वे एक हो जाते हैं और एक दूसरे की मदद करते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि भारत का स्वाधीनता-संग्राम साम्राज्यवाद और फेसिज्म के विरुद्ध छिड़ी बड़ी जंग का एक अंग है। वैसे ही फिलस्तीन ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध छिड़ा संग्राम भी।

हमें फिलस्तीन की समस्या को इस व्यापक और स्पष्ट दृष्टि से ही देखना चाहिए, नहीं तो हम दुविधा में पढ़ जायँगे और घटनायें हमारी समझ में नहीं आ सकेंगी। अगर हमें यह राह दिखलानेवाली दृष्टि और नापने का फीता मिला, तब हम इन घटनाओं की ठीक-ठीक तजवीज करने लायक हो सकेंगे। तभी हम जान सकेंगे कि कौन-कौन आदमी और कौन-से गिरोह इस पक्ष में हैं और कौन-कौन उस पक्ष में। हिन्दुस्तान में अपने को

अन्तर्राष्ट्रीय मामलों के विशेषज्ञ कहनेवाले आदमी मिलते हैं, जो स्पेन के बागियों और फेसिज्म के प्रति आम तौर से सहानुभूति प्रगट करते और हमारे कुछ अखबार उनका यह दृष्टिकोण बिना सोचे-समझे स्वीकार कर लेते हैं। अवश्य ही यह फेसिस्टों और प्रतिक्रियावादियों के सिद्धान्त का प्रचार करना है। ताज्जुब क्या, अगर हिन्दुस्तान के प्रतिक्रियावादी दूसरी जगह के प्रतिक्रियावादियों के हमदर्द हैं।

फिलस्तीन की समस्या अरबों और यहूदियों की समस्या है। लेकिन हमारे कुछ मुसलमान दोस्त इसे मजहबी मसला समझते हैं और अपने हम-मजहबों के लिए हमदर्दी चाहते हैं। यह गलत और भटकानेवाला रास्ता है। यह समस्या है उगती हुई राष्ट्रीयता की स्वातंत्र्य-भावना की, जिसे साम्राज्यवाद ने कुचल दिया है। इस प्रकार ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने; भारत की तरह वहाँ भी, एक सम्प्रदाय के विरुद्ध, दूसरे सम्प्रदाय को भड़काने की कोशिश की है और अरबों के पीछे यहूदियों को लगा दिया है। उसने हमारी ही साम्प्रदायिक समस्या की भाति फिलस्तीन में भी साम्प्रदायिक समस्या पैदा करने की कोशिश की है। सीरिया में भी फ्रांसीसी सरकार ने ऐसा ही किया है। हमें इससे सबक सीखना चाहिए कि गुलाम देशों में ही साम्प्रदायिक समस्या की बीमारी क्यों है और उसके मूल-कारण को उखाड़ फेंकना चाहिए।

यह सही है कि इस समय फिलस्तीन के अरबों और यहूदियों में मनमुटाव और संघर्ष चल रहा है। साथ ही, यह भी सही है कि इसका सच्चा हल उनके आपस के समझौते से होगा और वह समझौता होगा मुल्क की आजादी की बुनियाद पर। बेचारे यहूदी हिंसक फेसिज्म के शिकार हुए और हो रहे हैं। उनकी मुसीबतों के लिए हमें दुःख होना ही चाहिए। दुर्भाग्य की बात है कि फिलस्तीन में वे अपने को ब्रिटिश-साम्राज्यवाद के हाथों बर्बाद होने दे रहे हैं। उनका भविष्य अरबों के

सहयोग और इस सत्य को स्वीकार कर लेने में है कि फिलस्तीन अरबों का ही मुल्क है और उनका ही मुल्क रहेगा। अगर वे इतना मान लेते हैं तो वह सहयोग सहज ही मिल सकेगा। साथ ही, फिलस्तीन और जोरडान में मुल्क की तरक्की में मदद देने के लिए यहूदियों का स्वागत होगा, क्योंकि मदद करने लायक उनके पास पैसे हैं। पुराने जमाने में अरब और यहूदी एक साथ मिलकर रह चुके हैं। उनके फिर ऐसा न करने की कोई वजह नहीं है।

इस समय मामला है ब्रिटिश-साम्राज्यवाद का अरब-आन्दोलन को फौरन कुचल देने का। बड़ी-बड़ी ब्रिटिश फौजें मुल्क को नये सिरे से जीतने के लिए फिलस्तीन में भेजी जा रही हैं। मार्शल-ला का वहाँ बोल-बाला होगा। हमारी सहानुभूति और शुभ-कामना फिलस्तीन-वासियों के पास उनकी मुसीबत की घड़ियों में अवश्य जानी चाहिए। उनके आन्दोलन को कुचलना हमारे अपने और उनके राष्ट्रीय संग्रामों को कुचलना है। आजादी के विश्व-युद्ध में हम दोनों एक साथ जूझ रहे हैं।

फिलस्तीन में जो खूँरेजियाँ और दुखद घटनायें हो रही हैं, मुझे मालूम है। हम उन्हें कभी पसन्द नहीं करेंगे, क्योंकि वे अच्छे ध्येय को भी खराब और कमजोर कर देते हैं। मैं यह भी मानता हूँ कि तरह-तरह की सामन्तवादी शक्तियाँ राष्ट्रीय लहर को बर्बाद कर खुद उससे फायदा उठाना चाहती हैं। लेकिन यह सब होते हुए भी हमें याद रखना है कि यह निश्चय ही अरब राष्ट्रीयता का संग्राम है, जो ब्रिटिश साम्राज्यवाद के पंजे से अपनी आजादी हासिल करना चाहती है। उस साम्राज्यवाद की सारी ताकत उसे कुचल देने की कोशिश कर रही है। लेकिन, अन्त में यह कुचली नहीं जा सकती, क्योंकि राष्ट्रीयता और स्वाधीन होने का संकल्प अमर है।

हालाँकि हम अपनी समवेदना और शुभकामना फिलस्तीन की जनता को भेजते हैं, पर उन्हें मदद पहुँचाने का सही तरीका है अपने भारतीय स्वातंत्र्य-युद्ध में अपना पूरा हिस्सा अदा करना। संसार के साम्राज्यवाद-विरोधी संग्राम का यह दूसरा या शायद सब से ज्यादा जरूरी पहलू है। एक तरफ अरबों के साथ हमदर्दी की चर्चा करना और दूसरी तरफ भारत की ब्रिटिश साम्राज्यशाही से सहयोग करना, बिल्कुल वाहियात है।

इसलिए, हमारे लिए तो अपनी आजादी की लड़ाई का चालू रखना ही समस्या है। जो लोग इसके दूसरे और छोटे पहलुओं को महत्व देते हैं, वे असल मामले से हमारे ध्यान को हटाते हैं। इस लड़ाई में अगर हम उसी साम्राज्यशाही, जिसका हम अन्त करना चाहते हैं, की मदद से छोटा-मोटा सुधार भर कराना चाहते हैं, तो हम अपनी शक्ति बर्बाद करेंगे और उनके उद्देश्य को धक्का पहुँचायेंगे। कांग्रेस की चुनाव-घोषणा में हमारे संग्राम की इस आवश्यक वस्तु-स्थिति पर जोर दिया गया है। इस घोषणा-पत्र को सारे देश ने स्वीकार कर लिया है, हाँ भले ही चन्द ऐसे व्यक्ति हैं, जो इससे रंज हो गये हैं। यहाँ हम आवश्यक अन्तर देखते हैं—अपने संगठन और दूसरों के बीच। हमारा संगठन जो साम्राज्यवाद के विरुद्ध तथा खास उसूलों के लिए डटा है और दूसरे जिनका कोई साफ उद्देश्य नहीं है और जो व्यक्तिगत दृष्टि से देखते या छोटे-मोटे सुधार अथवा साम्प्रदायिक कृपा के इच्छुक हैं। अगर मुल्क आजादी चाहता है, तो उसके लिए एक ही रास्ता खुला है। कांग्रेस के पीछे एक पंक्ति में खड़ा हो जाना। हमारे दरवाजे इस बुनियाद पर सब के लिए खुले हैं, सिर्फ हमीं लोग लायक नहीं हैं। लेकिन जो इस ब्रिटिश साम्राज्यशाही के साथ सहयोग करने के ख्याल से सोचते हैं, उनके लिए हम दोनों का एक क्षेत्र नहीं है। वे बड़े आदरणीय व्यक्ति हो सकते हैं, बहुतेरे हैं भी, लेकिन सवाल व्यक्ति का नहीं, बल्कि सिद्धान्त का है। संसार के इस

विपत्ति-काल में जबकि आफतों से आकाश एकदम आच्छन्न है, साम्राज्य-शाही और प्रतिक्रिया के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा लेने की जरूरत है। केवल कांग्रेस ही यह मोर्चा लेती है।

फिलस्तीन की समस्या

अरबों के राष्ट्रीय आन्दोलन और उनके स्वाधीनता-संग्राम के प्रति मेरा सहानुभूति प्रगट करना हिन्दुस्तान के यहूदियों को बुरा लगा है। मैं कुछ अधिक विस्तार के साथ बतलाने की हिम्मत करता हूँ कि फिलस्तीन की इस समस्या के प्रति मेरा क्या भाव है।

यहूदी लोग सदियों से सारे यूरप में जो भीषण रूप से सताये गये हैं उसके लिए, मैं समझता हूँ कि, ऐसे कम ही लोग होंगे जिनको उनके साथ गहरी सहानुभूति न हो। इधर कुछ वर्षों तक नाजियों ने यहूदी जाति पर जिस बर्बरता के साथ अत्याचार किया है तथा अब भी कर रहे हैं उसके लिए अपने क्रोध को दबानेवाले और भी कम आदमी होंगे। जर्मनी के अन्दर भी यहूदियों को सताना विचित्र फासिस्ट समूहों का प्यारा खेल हो गया है। जाति-विद्वेष और जाति-युद्ध का इस तरह भीषण रूप से फिर जारी होना मुझे बिलकुल नापसन्द है और यहूदी जाति के बहुत लोगों के कष्ट से मैं दुखी हूँ। इन अभागे लोगों में से

—जिनका न अपना कोई घर है न देश—कितनों ही से मेरा परिचय है और कुछ के तो मित्र होने का सम्मान प्राप्त है।

इसलिए यहूदियों के साथ पूरी सहानुभूति रखते हुए मैं इस प्रश्न को लेता हूँ। मेरी निजी राय पर जातिगत या धर्मगत भाव का कुछ असर नहीं पड़ता है। परन्तु मैंने महासमर का तथा उसके बाद का जो इतिहास पढ़ा है उससे विदित होता है कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद-द्वारा अरबों के साथ घोर विश्वासघात किया गया है। ब्रिटिश गवर्नमेंट की ओर से कर्नल लारेंस आदि ने कितने ही वादे किये और उन वादों के कारण अरबों ने महासमर में अंग्रेजों तथा मित्र-राज्यों की सहायता की। मगर लड़ाई खतम होने पर वे सभी वादे भुला दिये गये। सीरिया, इराक, ट्रान्स-जार-डोनिया और फिलस्तीन में रहनेवाले सभी अरबों को यह विश्वासघात बहुत अखरा। मगर फिलस्तीन के रहनेवाले अरबों की अवस्था तो सचमुच सब से अधिक शोचनीय है। सन १६१५ से स्वाधीनता प्रदान के वादे बार-बार किये गये थे। परन्तु उन्होंने अचानक देखा कि वे एक शासनादिष्ट इलाके के आदमी बना दिये गये हैं और ऊपर से उनपर एक नया बोझ लाद दिया गया है—यहूदियों को अपना देश, राष्ट्रीय निवास बनाने देने का वादा किया गया है। यह ऐसा बोझ है जिसने उनके लिए स्वाधीनता प्राप्त करना प्राय असम्भव बना दिया।

यहूदियों को यरूसलम और अपने तीर्थस्थान को देखने-भालने और वहाँ स्वतंत्रता-पूर्वक जाने का हक है। परन्तु बालफूरवाली घोषणा के बाद से अवस्था बहुत पलट गई। फिलस्तीनमें राज्य के अन्दर एक नया राज्य स्थापित करने का यत्न किया गया। और उसका सहायक ब्रिटिश साम्राज्यवाद हुआ। यह सोचा गया कि यह नया यहूदी राज्य कुछ ही दिनों में संख्या तथा धन में इतना जबरदस्त हो जायगा कि समूचे फिलस्तीन में उसीकी प्रधानता हो जायगी। फिलस्तीन में यहूदियों को बसाने की नीति इसी उद्देश्य को लेकर चलाई गई, हालाँ कि मैं समझता

हूँ कि कुछ यहूदी इस भाव के विरोधी थे। अन्त में यहूदियों ने अरबों का विरोध किया और ब्रिटिश सरकार से सहायता चाही।

यहूदियों का अपने पवित्र स्थान से पुराना सम्बन्ध और उसके लिए उनका वर्तमान पूज्यभाव नैतिक कहला सकता है। उसमें सहानुभूति हो सकती है। मगर अरबों का? उनके लिए भी वह पवित्र स्थान है। मुस्लिम अरब और क्रिस्तान अरब, दोनों के लिए। तेरह सौ वर्ष या उससे भी अधिक समय से वे वहाँ रहते हैं और उनके सारे राष्ट्रीय तथा जातीय हित ने वहाँ जड़ें जमा ली हैं। फिलस्तीन खाली स्थान नहीं है कि वह बाहरी लोगों को बसाने योग्य समझा जाय। यह खूब घना बसा हुआ और भरा हुआ देश है, उसमें बाहर के लोगों को बसाने के लिए जगह नहीं है। तब इन बिना बुलाये आये हुए लोगों के विरुद्ध आपत्ति की तो इसमें आश्चर्य क्या? जब उन लोगों ने यह समझा कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद का अर्थ यह है कि उनकी स्वाधीनता के स्थायी बाधक-स्वरूप अरब-यहूदी समस्या खड़ी कर दी जाय तब उनका विरोध और भी बढ़ा। ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने हमारी स्वाधीनता के मार्ग में हिन्दुस्तान में जो ऐसी ही बाधा खड़ी कर दी है उसका हमलोगों को काफी अनुभव है।

यह बहुत सम्भव है कि कुछ यहूदियों का फिलस्तीन में आना बहुत पसंद किया गया हो और वे वहाँ बस गये हों। परन्तु जब यहूदी लोग अरबों को सभी महत्वपूर्ण स्थानों से हटाने और उस देश पर प्रधानता जमाने की नीयत से आने तब उनका आना कैसे पसन्द किया जा सकता है? सिर्फ इस ख्याल से अरबों का विरोध नहीं घट सकता कि यहूदी बाहर से बहुत रुपये लाये हैं और उन्होंने उद्योग-धन्धे और स्कूल-कालेज खोल दिये हैं। क्योंकि अरब ये सब बुरे लक्षण देखकर बहुत दुःखी हो गये हैं कि वे सदा के लिए पराधीन जाति बनाये जा रहे हैं और राजनीतिक तथा आर्थिक दृष्टि से उनपर यहूदियों तथा ब्रिटिश सरकार की प्रधानता रहेगी।

इस प्रकार फिलस्तीन की समस्या मुख्यतः राष्ट्रीय है—साम्राज्य-वादियों के नियंत्रण और शोषण के विरुद्ध इस देश के लोगों का स्वाधीनता प्राप्त करने का आन्दोलन है। यह जातीय या धार्मिक प्रश्न नहीं है, शायद हमारे देश के कुछ मुसलमान भाई अरबों के साथ इस कारण सहानुभूति दिखलाते हैं कि उनसे उनका धार्मिक सम्बन्ध है। मगर अरब अधिक बुद्धिमान हैं। सिर्फ राष्ट्रीयता और स्वाधीनता पर ही जोर देते हैं और यह बात याद रखने योग्य है कि अरब, क्रिस्तान और मुसलमान सभी इस संग्राम में ब्रिटिश साम्राज्यवाद का विरोध करने में एक साथ हैं। सच तो यह है कि इस राष्ट्रीय संग्राम में अरबों के अधिकतर बड़े नेता क्रिस्तान हैं।

अगर यहूदी समझदार होते तो अरब के स्वाधीनता-संग्राम में शामिल हो जाते। मगर इसके बदले उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्यवाद का पक्ष लेना पसन्द किया है। और वहां के निवासियों के विरुद्ध उससे मदद मांग रहे हैं। फलतः यह संग्राम राष्ट्रवाद बनाम साम्राज्यवाद का हो गया है। अरब-यहूदी समस्या आदि छोटे विषय, आजकल महत्त्व के होने पर भी ऐतिहासिक विशेषता नहीं रखते। इसी तरह ब्रिटिश साम्राज्यवाद का लाड़ला लड़का साम्प्रदायिक प्रश्न आज दिन हिन्दुस्तान में फैला हुआ दिखाई देता है। परन्तु विस्तृत इतिहास में उसका सारा महत्त्व गायब हो जाता है।

हिन्दुस्तान और फिलस्तीन दोनों के सामने राष्ट्रीय समस्या है। दोनों स्वाधीनता के लिए लड़ रहे हैं। इस संग्राम में दोनों में कुछ-कुछ समानता है। दोनों जगह, अन्यत्र की तरह राष्ट्रीयता का सम्पर्क नई सामाजिक शक्ति से हो गया है और वह धीरे-धीरे संसार की समस्या का रूप धारण कर रहा है, जिसका असर हम सब पर एक समान हो रहा है, हम इसका अनुभव करें चाहे न करें। इसलिए हम लोगों को एक-दूसरे को समझना चाहिए और एक दूसरे से सहानुभूति करना चाहिए।

जब हम इस व्यापक दृष्टि से विचार करते हैं तब अरब-यहूदी के प्रश्न का महत्व कुछ ज्यादा नहीं रह जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि फ़िलस्तीन के अरब स्वाधीनता प्राप्त करेंगे। परन्तु यह अरब लोगों की व्यापक एकता का अंग होगा, जिसके लिए पश्चिमी एशिया के लोग इतने दिन से परेशान हो रहे हैं। साथ ही यह उस नई व्यवस्था का अंग होगा जो आज दिन की अव्यवस्था से उत्पन्न होगी। यहूदी अगर बुद्धिमान होंगे तो इतिहास का उपदेश ग्रहण करेंगे और अरबों के मित्र बनकर फ़िलस्तीन की स्वाधीनता की ओर मुख़ातिब होंगे न कि साम्राज्यवादी शक्ति की सहायता से मौका-साधने और अपनी प्रधानता जमाने की कोशिश करेंगे।

इसलिए मैं यकीन करता हूँ कि हिन्दुस्तान की जनता फ़िलस्तीन के अरबों को, शक्तिशाली साम्राज्य-शाही के विरुद्ध आजादी की साहसपूर्ण जंग छेड़ने के उपलक्ष में हार्दिक बधाई और शुभ कामना का संदेश भेजेगी।

परिशिष्ट

मैं पढ़ता कब हूँ ?

मेरे मित्र मुझसे अक्सर पूछते हैं—'भला तुम पढ़ते कब हो ?' मेरी जिन्दगी मुख्तलिफ हलचलों से काफी शराबोर मालूम पड़ती है, जिनमें से कुछ तो शायद उपयोगी होती हैं दूसरी ऐसी कि जिनकी उपयोगिता संदिग्ध रहती है। जब सर-दर्दी से भरे हुए राजनीति के काम में हमारी जवानी खप जाती है और हमारे दिन-रात सब उसीमें चले जाते हैं, जो बदजहा अच्छी व्यवस्था में इससे सुखद कामों मे लगते, तब किताबों से नाता जोड़ उनके आकर्षणयुक्त जगत में रहना आसान नहीं है। मगर इस भयंकर चक्कर में भी मैं रात के वक्त ऐसी कोई किताब पढ़ने के लिए थोड़ा-सा वक्त निकालने की कोशिश करता हूँ जा राजनीति से बिलकुल दूर हो। लेकिन मेरा बहुत-कुछ पढ़ना इस विशाल देश का इधर से उधर सफर करते हुए, रेल में ही होता है।

रेल का तीसरे या ड्योढ़े दर्जे का डब्बा ऐसा नहीं होता कि उसमें लिखा-पढ़ा या कोई काम किया जा सके। लेकिन अपने साथी-मुसाफिरों से सदा ही मिलनेवाले मित्रता के व्यवहार और रेलवे-अधिकारियों की कृपा से हालत बदल जाती है, और मुझे भय है कि मैं यह दावा नहीं कर सकता कि ऐसी सफर में होनेवाली सब असुविधाओं का मुझे अनुभव है, क्योंकि दूसरे लोग इस बात पर जोर देते हैं कि मैं आराम से बैठूं और दूसरी ऐसी मेहरबानियाँ करते हैं, जिससे मेरी सफर में सुखद मानवता का स्पर्श हो जाता है। यह बात नहीं कि मुझे असुविधा से कोई प्रेम है या मैं जान-बूझकर उसे मोल लेना चाहता हूं। तीसरे दर्जे में मैं जो सफर करता हूँ, वह भी इस लिए नह, कि उसमें कोई बात या सिद्धात निहित है, बल्कि असली बात तो रुपये, आने, पाई की है। तीसरे दर्जे के और दूसरे दर्जे के किराये मे इतना ज्यादा फर्क है कि अत्यन्त आवश्यक हो जाने पर ही मैं दूसरे दर्जे की सफर की शौकीनी करने का साहस करता हूँ।

पुराने दिनों में, कोई एक दर्जन साल पहले, सफर करते हुए मैं बहुत-कुछ लिखा करता था। खासकर कॉंग्रेस-कार्य से संबंधित पत्र सफर में ही लिखता था। यहाँ तक कि मुख्तलिफ रेलों में सफर का बार-बार काम पड़ते रहने से उनकी अच्छाई-बुराई का निर्णय मैं इसी बात से करने लग गया कि लिखने की सुविधा उनमें से किसमें ज्यादा है। मेरा ख्याल है कि ईस्ट इंडियन रेलवे को मैंने पहला नंबर दिया था, नार्थ वेस्टर्न रेलवे भी ठीक थी, लेकिन जी० आई० पी० रेलवे निश्चित रूप से बुरी थी और बुरी तरह हिला डालती थी। ऐसा क्यों था, यह मैं नहीं जानता न मैं यही जानता हूँ कि मुख्तलिफ-रेलवे कंपनियों के किराये एक दूसरे से इतने मुख्तलिफ क्यों होने चाहिए, जब कि वे सब की-सब हैं सरकारी नियंत्रण में ही। यहाँ भी जाकर जी० आई० पी० रेलवे ही एक सब से ज्यादा खर्चीली रेलवे ठहरती है और यह मामूली वापसी टिकट भी जारी नहीं करती।

अब मैंने चलती गाड़ी में ज्यादा लिखने की आदत छोड़ दी है। शायद अब मेरा शरीर भी उतना लचीला नहीं रहा है और अपने को इस तरह नहीं रख सकता कि चलती गाड़ी में जो हिलना और उछलना होता है, उसको बर्दाश्त कर ले। फिर भी अपनी यात्राओं में किताबों से भरकर संदूक मैं अपने साथ ले जाता हूँ, कि जिन सब को संभवत. मैं पढ़ नहीं सकता। उन्हें चाहे पढ़ा न जाय, फिर भी अपने आस-पास किताबों के मौजूद रहने से संतोष तो रहता ही है।

यह सफर लम्बी, ठेठ करांची तक होनेवाली थी, जो मुझे अपनी हवाई यात्रा के बाद करीब-करीब यूरोप के आधे रास्ते जितना ही मालूम पड़ा। इसलिए मेरा संदूक मुख्तलिफ किस्म की किताबों से अच्छी तरह भरा हुआ था। जैसी कि मेरी आदत थी, ड्योढ़े दर्जे के डब्बे में मैं रवाना हुआ। लेकिन दूसरे दिन लाहौर में रास्ते की भयानक और भीषण गर्मी व धूल ने मेरे इरादे को ढीला कर दिया और मैंने दूसरे दर्जे की सफर की शौकीनी अख्तियार कर ली। इस तरह साधारणतः सुविधा

और आराम के साथ मैंने सिंध का रेगिस्तान पार किया। यह अच्छा ही हुआ जो मैंने ऐसा किया, क्योंकि अपने डब्बे को अच्छी तरह बन्द कर लेने पर भी उसमें जो दरारें वगैरह रह गई थीं, उनसे धूल के बादल-के बादल अन्दर आए और हमारे ऊपर धूल की तह-की-तह जमगई, हमारे लिए साँस तक लेना भारी हो गया, तीसरे दर्जे का खयाल आने पर तो मैं काँप उठा। गर्मी वगैरह को तो मैं बर्दाश्त कर सकता हूँ, लेकिन धूल का बर्दाश्त करना मेरे लिए बहुत मुश्किल है।

इस लम्बी सफ़र में जो किताबें मैंने पढ़ीं, उनमें एक एडवर्ड विल्सन के बारे में थी। वह एक असाधारण और स्मरणीय मनुष्य था, जो पशु-पक्षियों का प्रेमी था, एंटार्कटिक प्रदेश में स्कॉट का मरते दम तक साथी रहा था। और यह किताब मुझे एक दूसरे स्मरणीय मनुष्य से मिली थी, इसलिए इसका मुझे दुहरा आकर्षण था। ए० जी० फ्रेजर का यह उपहार था, जो पश्चिमी अफ्रिका के उस एचिमोटा कॉलेज में बहुत दिनों तक प्रिंसिपल रहे थे, जो कि उनके परिश्रम, सहानुभूति और प्रेम से निर्मित अफ्रिकन शिक्षा की श्रेष्ठ और अद्भुत यादगार है।

जैसे-जैसे हमारी गाड़ी आगे बढ़ती गई, वैसे-वैसे सिन्ध का रेतीला और अटपटा रेगिस्तान गुजरता गया। इसी बीच मैंने एंटार्कटिक प्रदेशों में विपरीति परिस्थितियों से मनुष्य की बहादुराना लड़ाई, उस मानवी साहस कि जिसने खुद शक्तिमान प्रकृति पर ही विजय प्राप्त कर ली और ऐसी सहिष्णुता का हाल पढ़ा जो करीब-करीब विश्वास से बाहर की ही चीज है। साथ ही हरेक संभवनीय दुर्भाग्य के मौके पर अपने को भुला कर खुशमिजाजी के साथ अपने साथियों के प्रति वफादार और भारी प्रयत्नशील रहने का भी हाल पढ़ा। और यह सब किस लिए? न तो संबंधित व्यक्तियों की किसी सुविधा के लिए और न किसी सार्वजनिक हित या विज्ञान के लाभ की ही दृष्टि से। तब? महज उस साहसिकता के कारण जो कि इन्सान में होती है—वह भावना जो कभी झुकना नहीं जानती, बल्कि हमेशा ऊँचे ही ऊँचे जाने की कोशिश करती है—वह

वाणी कि जो आकाश से हमें सुनाई देती है। हममें से ज्यादातर इस आवाज को बहरे कानों से सुनते हैं, लेकिन यह अच्छा है कि कुछ लोग इसको सुनते हैं और हमारी मौजूदा संतान को श्रेष्ठ बनाते हैं। उनके लिए जीवन एक निरन्तर चुनौती, एक दीर्घ साहसिकता और प्रयोगात्मक चीज है।

"I count life just a stuff to try the soul's strength on......"

ऐसा था वह एडवर्ड विल्सन और यह ठीक ही है कि दक्षिणी ध्रुव में पहुँचकर वह और उसके साथी उसी विस्तृत एंटार्कटिक प्रदेश में अंतिम विश्राम करने लगे, जहाँ लम्बी-लम्बी दिन-रातें होती हैं और गहरी खामोशी छाई रहती है। वहाँ वर्फ और तुषार के ढेरों में वे चिर-विश्राम कर रहे हैं और उनके ऊपर इंसानी हाथ से यह आलेख किया हुआ है, जो उचित ही है :—

"प्रयत्न, आकांक्षा और खोज में लगे रहो . हिम्मत कभी न हारो।"

ध्रुवों को विजय किया जा चुका है, रेगिस्तानों की पैमायश हो चुकी है, ऊँचे-ऊँचे गिरि-शिखरों पर मनुष्य पहुँच गया है, लेकिन एवरेस्ट (गौरीशंकर) अभी भी अविजित होने का गर्वानुभव कर रहा है।

मगर, मनुष्य सतत प्रयत्नशील है और एवरेस्ट को उसके आगे झुकना ही पड़ेगा, क्योंकि उसके दुबले-पतले शरीर में मस्तिष्क एक ऐसी चीज है, जो किसी बन्धन को नहीं मानती और उसमें ऐसी भावना है, जो पराजय को कभी स्वीकार नहीं करती। तब, रहा क्या ? जमीन, क्योंकि छोटी-छोटी और अद्‌भुद एवं सतत साहसिकता धीरे-धीरे इससे विदा होती जा रही मालूम पड़ती है। कहा तो यहाँ तक जाता है कि ध्रुव-प्रदेश से युद्ध शायद बहुत जल्दी ही एक साधारण घटना हो जायगी, पहाड़ों पर रस्सी के सहारे दौड़ते हुए चढ़ा जाने लगेगा और उनके शिखरों पर शानदार होटल खुलेंगे और तरह-तरह के सुन्दर बाजे रात की खामोशी और वर्फ की चिर-नीरवता को भङ्ग करेंगे, बीच की

उम्र के आदमी ताश खेलते हुए इधर-उधर की गपशप करेंगे और नौजवान व बूढ़े बड़े जोरों से आनन्दोपभोग की खोज करेंगे।

इतने पर साहसियों के लिए साहस के काम हमेशा मौजूद रहते हैं और अभी भी यह विशाल संसार उन्हींका साथ देता है, जिनमें भावुकता और साहसिकता होती है, और तारे समुद्रों के पार उनका आवाहन करते हैं। जब कि जो लोग चाहें उनके लिए जीवन में साहसिकता वहीं मौजूद हो, तब क्या साहस दिखाने के लिए ध्रुवों पर या पहाड़ी रेगिस्तान में जाने की जरूरत है? ओह! अपने और अपने समाज के जीवन को हमने कैसा बना दिया है, अपने सामने मानव-भावना की स्वतंत्र वृद्धि एवं आनन्द और बहुलता के होते हुए भी हम भूखों मर रहे हैं और पहले से कहीं रही गुलामी में हमने अपनी भावनाओं को कुचल डाला है! हमें चाहिए कि भरसक इस हालत को बदलने की कोशिश करें, जिससे मानव-प्राणी अपनी महान विरासत के योग्य बने और अपने जीवन को सौंदर्य, आनन्द एवं आध्यात्मिकता की बातों से संपन्न करे। जीवन में साहस से स्फूर्ति मिलती है और यही सब से बड़ी साहसिकता है।

रेगिस्तान तिमिर से आच्छादित है, लेकिन गाड़ी अपने निश्चित लक्ष्य की ओर भागी चली जा रही है। इसी तरह, शायद मानवता भी विघ्न-बाधाओं से लड़ती हुई आगे बढ़ रही है। हॉला कि रात अंधेरी है और लक्ष्य हमें दिखाई नहीं पड़ रहा है, शीघ्र ही सुप्रभात होगा और रेगिस्तान के बजाय नीला समुद्र हमारा स्वागत करेगा।

चलता हुआ करांची मेल,
१७ जुलाई, १९३६

स्वराज्य क्या है ? (भाई-परमानन्द लिखित)

'स्वराज्य' शब्द ऐसा आम हो गया है कि हमको कभी ख्याल भी नहीं होता कि जरा इसका वास्तविक अर्थ समझने का प्रयत्न करें। इस समय यदि किसी बच्चे से भी पूछा जाय तो वह कह देगा कि हम स्वराज्य प्राप्त करना चाहते हैं। उसने अपने मन में स्वराज्य का कुछ-न-कुछ चित्र भी जरूर बना रखा होगा। परन्तु वह चित्र कुछ हकीकत रखता है या सिर्फ खयाल है, यह बात वह बच्चा नहीं जानता। पाठक यह सुनकर हैरान हो जायँगे अगर मैं यह कह दूँ कि कांग्रेस और हिन्दू महासभा के बीच में भेद या गलतफहमी का कारण ही यह है कि यद्यपि दोनों स्वराज्य प्राप्त करना चाहते हैं, तथापि वे स्वराज्य को सर्वथा एक-दूसरे से भिन्न समझते हैं। यदि हम आज इस बात का फैसला कर लें कि स्वराज्य किसे कहते हैं, तो हमारे बहुत-से पारस्परिक मतभेद तुरन्त दूर हो जायँ।

'स्वराज्य' का शाब्दिक अर्थ 'अपना राज्य' या 'सेल्फ-गवर्नमेंट' है। 'राज्य' शब्द के प्रयोग में भी बहुत मतभेद हो सकता है। एक मनुष्य 'राज्य' का अर्थ राज-सत्तात्मक गवर्नमेंट करता है तो दूसरा इसका अर्थ प्रजासत्तात्मक गवर्नमेंट समझता है। एक भारतीय ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत रहते हुए 'सेल्फ गवर्नमेंट' को स्वराज्य कह देता है तो दूसरा इसके अर्थ ब्रिटिश गवर्नमेंट से स्वतंत्र होना समझता है। विधायक रूप के सम्बन्ध में इस प्रकार के भेद-भाव हमारे दरम्यान हो सकते हैं, परन्तु जिस भेद को मैं यहाँ प्रगट करना चाहता हूँ वह 'स्वराज्य' शब्द के पहले भाग 'स्व' से सम्बन्ध रखता है।

'स्व' का अर्थ 'अपना' या 'सेल्फ' है। परन्तु तुरन्त ही यह प्रश्न उठता है कि 'अपना' शब्द में हम किसको सम्मिलित करते

हैं। हमारे कुछ भाई तो यह कह देंगे कि इस प्रश्न के हल करने में दिक्कत ही क्या है; 'अपना' शब्द में वे सब लोग शामिल हैं जो इस देश में रहते हैं। परन्तु मैं इस प्रश्न को इतना आसान नहीं समझता। मै यह पूछूँगा कि अगर इंगलैंड की गवर्नमेंट यहाँ भारत में कोई ऐसा वायसराय भेज दे जो यहाँ आकर हमेशा के लिए आबाद हो जाय और अपने शासन के रक्षार्थ समय-समय पर इंगलैंड से अपने आदमियों को बुलाता रहे तो क्या वह 'राज्य' हमारे लिए 'स्वराज्य' होगा या नहीं। कुछ सज्जन कह देंगे कि यह तो काल्पनिक बात है। मैं यह बताना चाहता हूँ कि यह बात काल्पनिक नहीं है। इस देश में मुगलों का राज्य था। मुगलों से पहले कई अन्य मुसलमान-वंशों की हुकूमत रही। वे शासक और उनके सिपाही जिनको वे साथ लाये थे इस देश के निवासी बन गये। क्या उस युग के हिन्दुओं ने उस राज्य को अपना राज्य समझा या गैरों का ? अगर उन्होंने उसे गैरों का समझा तो क्या वे गलती पर थे या जिन लोगों ने इन विदेशी शासकों को अपना समझा वे सचाई पर थे ?

इस बात के स्पष्ट करने के लिए हमें समझ लेना चाहिए कि 'स्वराज्य' लेने के दो विभिन्न तरीके हैं। एक तो यह कि हम राज्य की शकल को बदल दें और दूसरा यह कि हम अपनी शकल को बदल दें। इस देश पर जब मुसलमानों ने आक्रमण किये और स्थान-स्थान पर अपना शासन कायम करने का प्रयत्न किया तब भारत की हिन्दू-आबादी मे दो प्रकार के मनुष्य पाये जाते थे। एक वे थे जिन्होंने यह समझा कि उनके लिए स्वराज्य लेना बहुत मामूली बात है। उन्होंने अपना धर्म छोड़ दिया, अपने पूर्वजों को तिलांजलि दे दी, अपनी जातीयता को त्याग दिया और इस्लाम मजहब इख्तियार कर लिया। मुसलमान होते ही वे इस्लामी राज्य को अपना राज्य समझने लगे। उनके लिए स्वराज्य

लेने का तरीका बहुत आसान था। केवल 'स्व' को बदल लेने से, बिना किसी प्रकार का बलिदान किये, बिना किसी चरित्र के, बगैर किसी मिहनत के उन्होंने स्वराज्य प्राप्त कर लिया। उस समय जितने लोग स्वधर्म तथा स्वजाति को छोड़कर मुसलमान बन गये वे महमूद गजनवी और तैमूर को अपना भाई समझने लगे। और नादिरशाह और अहमदशाह अबदाली के हिन्दुओं पर किये गये अत्याचार उन्हे हर्ष एवं गर्व पैदा करनेवाले कार्य दिखलाई पड़ने लगे। और आज उन लोगों के वंश के जितने मुसलमान भारत में आबाद हैं उन सब के लिए इस्लामी शासन स्वराज्य हो गया है। भारत के इतिहास के सम्बन्ध मे उनका दृष्टिकोण ही बदल गया है। स्वराज्य-प्राप्ति का यह एक निहायत आसान तरीका है।

एक अन्य तरीका था जिससे दूसरे लोगों ने प्राप्त करने का प्रयत्न किया। उसका एक उदाहरण हमें राजपूतो के इतिहास में मिलता है। उसका दूसरा उदाहरण हमें महाराज शिवाजी और मराठों के उत्कर्ष मे मिलता है। उसका एक और उदाहरण हमें गुरु गोविन्दसिंह, वीर वैरागी और सिक्ख साम्राज्य में मिलता है। राजपूतों, मराठों और सिक्खो ने भी स्वराज्य प्राप्त किया। स्वराज्य प्राप्ति का इनका तरीका पहले तरीके से सर्वथा विरुद्ध था। इन्होंने बड़े भारी बलिदान किये, बड़ी-बड़ी यातनायें उठाईं, अपने कुटुम्बियों और महिलाओं तक को कत्ल करवा दिया। इस प्रकार इन्होंने अपनी गिरी हुई जाति के अन्दर सच्चरित्रता उत्पन्न किया और नवजीवन संचार किया, यह उसी नये जीवन की बदौलत था कि महाराष्ट्र के मामूली देहातियों ने और पंजाब के ग्रामीणों ने अपने-अपने साम्राज्य बना लिये। परन्तु स्वराज्य प्राप्त करने का यह तरीका इस लेख के विचार के बाहर क बात है।

खैर, इन लोगों ने 'स्व' का अर्थ बिल्कुल दूसरा समझा। इनके 'स्व' या 'सेल्फ' और उनके 'स्व' या 'सेल्फ' में जमीन-आस्मान का फर्क है। थोड़ी देर विचार करने से मालूम होगा कि वे लोग मिस्रियों और ईरानियों के समान थे जिन्होंने अपनी जातीयता का नाम मिटा दिया और अपने आपको एक विदेशी जाति के अन्दर जज्ब कर दिया। नस्ल और खून, जाति और रक्त की जो अखंडता हजारों सालो से उनकी रगों मे चली आती थी उसे उन्होंने मिटा दिया और अपनी कायरता या पतन के कारण कुछ से कुछ बन गये। यह अखंडता जातीयता है; यह जाति का जीवन और उनकी आत्मा है। जो लोग इस अखंडता को मिटाकर दूसरे तरीके से स्वराज्य प्राप्त करना चाहते हैं उनका स्वराज्य गर्हणीय है। उनके स्वराज्य की अपेक्षा मृत्यु हजार दर्जे बेहतर है।

वर्त्तमान काल मे हमारे सामने 'स्वराज्य' की वही दोनों शकलें विद्यमान हैं। हमारे कांग्रेसी भाई हैं जो इस जातीय अखंडता को इसलिए मिटा देना चाहते हैं कि उन्हे स्वराज्य प्राप्त हो जाय। वे कहते कि भारत के पुराने इतिहास को भुला दो, महाराना प्रताप, महाराज शिवाजी, गुरु गोविन्दसिंह और वीर वैरागी को भूल जाओ, क्योंकि उन्हे जातीयता का ठीक ज्ञान नहीं था। आज हमको जातीयता का ठीक-ठीक ज्ञान है, न हमे हिन्दुत्व की परवा है न हिन्दू-इतिहास की; हम तो स्वराज्य लेना चाहते हैं। हमने एक नई जातीयता ढूँढ़ निकाली है, जिसमे पिछला सारा जमाना मिट जायगा और इस देश में एक नई जातीयता उत्पन्न होगी। मैं इस 'थेयरी' या कल्पना को बिलकुल गलत समझता हूँ। यह उन लोगों का-सा खयाल है जिन्होंने मुगलों के समय मे बड़ी आसानी के साथ स्वराज्य लेना चाहा। उन्होंने अपना 'स्व' बदल दिया। हमारे ये भाई भी अपना सेल्फ मिटा

देना चाहते हैं। मैं ऐसे स्वराज्य को धिक्कार देता हूँ। अगर हमें इसी तरीके पर स्वराज्य लेना है तो इससे भी ज्यादा एक और तरीका है। हम सब अपना धर्म छोड़कर ईसाई बन जायँ। हमारा 'स्व' इंगलैंड के लोगों का 'सेल्फ' हो जायगा और हम स्वतंत्र हो जायँगे। यह बात कि इससे हमें स्वतंत्रता मिलेगी या नहीं, सर्वथा असंगत है। सवाल तो सिर्फ समझने का है। हम अपने 'स्व' को मिटाकर उसे इंगलैंड के 'स्व' में जज्ब करवा देंगे तो इंगलैंड का राज्य हमारे लिए स्वराज्य का समानार्थक हो जायगा।

एक अन्य युक्ति जो मैं इस 'थियरी' या कल्पना के विरुद्ध देना चाहता हूँ वह यह है कि हम हिन्दू अपने आपको चाहे कितना ही भुला दें और नई जातीयता की खातिर हिन्दू-जातीयता को मिटा दें, पर पिछला सारा अनुभव हमें यही बतलाता है कि मुसलमान लोग कांग्रेस की इस थियरी को मानने के लिए बिलकुल तैयार नहीं हैं। वे किसी भी अवस्था में न इस्लाम को भुलायँगे और न नई जातीयता को ग्रहण करेंगे। इसलिए कांग्रेस की यह 'थियरी' जहाँ तर्क की दृष्टि से बिलकुल गलत है वहाँ क्रियात्मक दृष्टि भी सर्वथा असंभाव्य है।